प्रकाशक :

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट,

कलकत्ता-१



संकलयिता :

आदर्श साहित्य संघ

चूरू (राजस्थान)



प्रथमावृत्ति :

दिसम्बर, १९६३



प्रति संख्या :

११००



पृष्ठ संख्या :

६८



मूल्य :

१.२५



मुद्रक :

रेफिल आर्ट प्रेस

३१, बड़तल्ला स्ट्रीट,

कलकत्ता-७

प्रकाशकीय

जैन सम्प्रदाय के आचार्य होते हुए भी आचार्य श्री तुलसी सम्प्रदायातीत समन्वय के एक प्रतीक हैं। वे सर्वसाधारण के जन-मानस में सहृदयता से समा जाने वाले एक आदर्श पुरुष हैं। इन्होंने अणुव्रत आन्दोलन के माध्यम से जन-मानस को छुआ है और बिना भेद-भाव के सबका कल्याण हो—यह उनकी अन्तर्ध्वनि है। आकर्षक लघु-कथानकों द्वारा जन-जन का जीवन समुज्ज्वल हो तथा मानवता का मूल्यांकन सब कोई समझें, ऐसी भावना से लोक-कथा एवं लोक-साहित्य का खूब निर्माण व प्रसार हो—यह कामना उनके दिल में सर्वदा रहती है। उसी का एक रूप 'गागर में सागर' नामक यह एक लघु पुस्तिका है।

इसके मूल लेखक हैं मुनि श्री नथमल। जो कि आचार्य श्री तुलसी के हृदय-गत भावों के मूर्त्त अभिव्यञ्जक व मेधावी साधक हैं। आपकी तीखी प्रतिभा ने जैन दर्शन के अनेक ग्रन्थों का प्रणयन करने में तो अपने को बेजोड़ साबित किया ही है, साथ में वैसी ही अनुपमता लघु-कथा साहित्य को लिखने में भी इन्होंने पाई है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है यह प्रस्तुत पुस्तिका।

सहज ही जीवन को मोड़ देने वाला यह छोटा-सा कहानी-संग्रह पाठक-वृन्द के लिए उद्बोधक एवं आकर्षक होगा, ऐसी आशा है।

दिनांक २०-१२-१९६३
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता

श्रीचन्द रामपुरिया
संयोजक
साहित्य प्रकाशन समिति

पुस्तक के प्रति

सागर में गागर समाते ही हैं, उसमें कोई अचरज नहीं। अचरज वह है, जो गागर में सागर समा जाए। कहानी का अर्थ ही है—गागर में सागर का समाना। एक छोटी-सी कहानी उतना बड़ा तत्त्व समझा देती है, जितना हजारों पृष्ठ नहीं समझा पाते। एक कहानी हृदय की जितनी गहराई में घुसती है, उतनी गहराई का स्पर्श हजारों विवेचन नहीं कर पाते। हृदय की माँग है सहजता और सरसता। उसी की पूर्ति के लिए जब मनुष्य ने प्रयत्न किया, तब कहानी का जन्म हुआ। वह उन सबको भाती है, जिनके पास हृदय है। बच्चे, बूढ़े और जवान, पढ़े-लिखे लोग और अपढ़ सभी कहानी सुन तृप्त होते हैं। केवल वे ही लोग तृप्त नहीं होते, जिनका हृदय बुद्धि के आवरण से ढँक जाता है।

आचार्य श्री तुलसी की कथा-साहित्य के प्रति अत्यन्त अभिरुचि है। उनका एक संकेत मिला और मैंने यह पुस्तक लिख डाली। कहानी स्वयं सहज की कहानी है, इसलिए मैंने लिखने में भी सहजता ही बरती है। मैं विश्वास करता हूँ कि सहजता कृत्रिमता की दीवारें लाँघ कर सहज तक पहुँच जाएँगी।

पौष कृष्णा ११, सं० २०२०

सुजानगढ़

(राजस्थान)

मुनि नथमल

अनुक्रम

: १ :

तीसरा चक्षु

आचार्य ने कहा—शिष्य ! अध्ययन करो। किन्तु तर्क-मति शिष्य ने पूछा—भगवन् ! मैं तो तपस्या की जीवनचर्या में संलग्न हूँ। मेरे लिए अध्ययन की क्या आवश्यकता है। मैं तो तपस्वी हूँ, विद्यार्थी नहीं।

आचार्य ने उत्तर दिया—अध्ययन से ज्ञान मिलता है और ज्ञान के बिना तुम्हारा वह प्रयोजन विफल हो जायगा, जिसके लिए तुम तपस्वी बने हो। तुमने हाथी की जीवनचर्या देखी होगी। वह सरोवर में स्नान करता है और बाहर आकर अपने शरीर पर धूल फेंकने लगता है। अज्ञानी ऐसा ही करता है। हाथी की ही तरह स्नान की पवित्रता को धूल की अपवित्रता से नष्ट कर देता है। क्योंकि पवित्रता-अपवित्रता में वह कोई अन्तर नहीं समझ पाता। अज्ञानी आचार के उपरान्त कोई ऐसा अनाचार करता है जो उसकी सम्पूर्ण साधना को अर्थहीन बना देता है। अध्ययन और ज्ञान के बिना क्या तुम इस संकट से बच सकोगे ?

तव शिष्य ने नम्र भाव से कहा—भगवन् ! रोगी तो वैद्य के पास चला जाता है, स्वयं चिकित्सा-शास्त्र नहीं पढ़ता । आप मेरे मार्ग-दर्शक हैं, मुझे अधर्म-मार्ग में जाने नहीं देंगे । मुझे अध्ययन क्यों आवश्यक है ?

आचार्य ने गम्भीरतापूर्वक कहा—क्या तुमने अन्ध-स्थविर की कथा नहीं सुनी ? लो सुनो—

उज्जैन में एक ब्राह्मण रहता था । वह अन्धा हो गया । पुत्रों ने उसकी आँखों की शल्य-चिकित्सा करवानी चाही । वृद्ध ने अस्वीकार कर दिया । कहा—मुझे आँखों की आवश्यकता नहीं है । तुम लोग मेरे आठ पुत्र हो, आठ कुल वधुएं हैं, तुम्हारी माँ है । चौंतीस आँखें मुझे प्राप्त हैं, फिर दो नहीं रहीं तो क्या हुआ ?

पिता ने पुत्रों की सलाह नहीं मानी । फिर एक दिन अचानक घर में आग लग गई । परिवार के सभी अपने-अपने प्राण लेकर वाहर भागे । वृद्ध की याद भी किसी को नहीं रही । वह अग्नि-ज्वाला में भस्म हो गया । इसीलिए शिष्य अज्ञान का आग्रह मत करो । अध्ययन करो एवं स्वावलम्वी वनो । ज्ञान तीसरा चक्षु है, पार्थिव चक्षुओं से अधिक महत्त्वपूर्ण है । इसे पाकर तुम धन्य हो जाओगे और मैं कृत-कृत्य ।



: २ :

स्वर्ग पर धरती की विजय

भोग त्याग से स्पर्धा करने जा रहा है। हजारों हाथी झूमने लगे। हिनहिनाते घोड़े हवा से बातें करने लगे। पदातियों के पाद-चाप से आकाश गूंज उठा। रथ आगे बढ़े। इन्द्र ने देखा भोग त्याग से स्पर्धा करने जा रहा है।

हाथी पर आरूढ़ दशार्णभद्र ने ललाट पर गर्व की रेखाएँ ताने देखा तो चारों ओर दीखा राजसी ठाट-बाट। भक्ति पर गर्व ने अधिकार पा लिया। श्रद्धा के आसन पर स्पर्धा जा बैठी। वह भूल गया कि निर्ग्रन्थ की अर्चना ग्रन्थ-राशि से कैसे होगी ?

हाथी आगे बढ़ा। जयनाद से दिगंत कांप उठे। प्राकार की छाती को चीरकर राजा नगर से बाहर आया। सामने के एक उद्यान में भगवान् महावीर का समवसरण हो रहा था। भगवान् पद्मासन की मुद्रा में आसीन थे। दीर्घ-तपस्वी का सान्निध्य पा, वह भूमि तपो-भूमि हो रही थी।

राजा ने भगवान् को देखा। सिर झुक गया, हाथ जुड़ गए। राजा नीचे भी नहीं उतर पाया, इतने में आकाश में बिजली-सी कौंध गई। हजारों हाथी आकाश की छाती पर आ खड़े हुए। वे हाथी इस धरती के हाथी नहीं थे। उनके पाँच-पाँच सौ मुँह और एक-एक मुँह में आठ-आठ दांत, एक-एक दांत में आठ-आठ वापियाँ, एक-एक वापी में आठ-आठ कमल, एक-एक कमल में लाख-लाख पंखुड़ियाँ, पंखुड़ी-पंखुड़ी पर बत्तीस प्रकार के नाटक हो रहे थे। कमल की कर्णिका पर लगे आसन पर इन्द्र बैठा था। वह राजा को अभिभूत करने के लिए उतावला हो रहा था।

राजा की आंखें खुली। उसने सोचा—"यह मैंने क्या किया? मेरे भगवान् वैभव को ठुकरा कर भगवान् बने; उन्हीं को मैं वैभव दिखलाने चला। मैंने वन्दना के लिए सत्ता का उत्कर्ष क्यों ढूंढ़ा? अब क्या होगा? इन्द्र जो आया है मुझे परास्त करने के लिए।

राजा आगे बढ़ा और भगवान् की चरण-धूलि सिर पर चढ़ा ली। राजा बोला—भगवन्! मैं तुम्हारी शरण में हूँ। मेरा विनय स्वीकार कीजिये, भगवन्!! भगवान् ने उसे अपनी शरण में ले लिया। दशार्णभद्र अब राजर्षि हो गए।

तुम्हारी अर्हंता अमर है, राजर्षे! तुम 'जितकाशी' हो, अब तुम्हें कोई नहीं जीत सकता।

वैभव से वैभव पर विजय पाने वाला इन्द्र अब नीचे उतरा। गर्व से गर्व को चूर करने वाला देवराज राजर्षि के चरणों में जा लोटा। दशार्णपुर के नागरिकों ने देखा, देवताओं ने देखा, भूमि और आकाश ने देखा—सबने देखा—यह थी भोग पर त्याग की विजय। यह थी स्वर्ग पर धरती की विजय।



: ३ :

स्वाधीनता

मगध सम्राट् श्रेणिक शालिभद्र को देखने के लिए उत्सुक हो रहा था। उसने भद्रा के पास राजपुरुष भेजा और अपनी इच्छा की सूचना करा दी। भद्रा सम्राट् के सामने प्रस्तुत हुई और शालिभद्र की राज्य-सभा में उपस्थित होने की असमर्थता प्रकट की। सम्राट को अपने घर निमंत्रित किया। सम्राट् ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

सम्राट् शालिभद्र के घर पहुँचा। भद्रा ने शालिभद्र से कहा—वत्स! चलो सम्राट् आया है। माँ! मैं क्या करूँगा? जो करना हो तुम्ही कर लो। तुम मुझे कभी नहीं पूछती। आज ही यह क्यों? जो दाम मांगे वह दे दो और खरीद लो। भद्रा ने कहा—वत्स! चुप रहो, कोई सुन न ले। सम्राट् खरीदने की वस्तु नहीं है। वह अपना स्वामी है।

स्वामी का नाम सुन शालिभद्र पर मानो पाला पड़ गया। वह वैभव की दुनियाँ से वाहर कभी पहुँच ही नहीं पाया था। उसे अपने पर किसी की स्वामी होने की कल्पना ही नहीं थी। उसकी दुनियाँ का बाहर की दुनियाँ से कोई सम्बन्ध ही नहीं था। उसकी सारी आवश्यकताएँ उस पिता के द्वारा पूरी होती थीं जो देव बनकर भी अपने पुत्र का स्नेह नहीं छोड़ सका था।

माता का अनुरोध मान शालिभद्र नीचे आया। सम्राट् ने उसे अपनी गोद में विठा लिया। सम्राट् को उसके स्पर्श से सुखानुभूति हो रही थी और सम्राट् का स्पर्श उसे पिघला रहा था। सम्राट् को अपने धन-कुवेर नागरिक पर गर्व हो रहा था और शालिभद्र अग्नि पर रखे मोम की भांति किसी को अपना स्वामी पा गलता जा रहा था। सम्राट् सीढ़ियों के उतार-चढ़ाव में थे और शालिभद्र का मन कल्पना के उतार-चढ़ाव में था। सम्राट् अपने प्रासाद पर पहुँचा और शालिभद्र अपने लक्ष्य तक पहुँच गया। स्वामी का सम्बन्ध उसके लिए सह्य नहीं था। वह स्वाधीन होने को उतावला हो गया। माता का अमिट प्यार और बत्तीस पत्नियों का अतुल स्नेह उसे बांध नहीं सका।

"माँ ! अपने में जो प्रकाश होता है,

दूसरे का स्व बनने से उसका विनाश होता है॥"

इन्हीं भावों ने उसको मुक्ति दी और वह भगवान् महावीर के शासन में चला गया—जहाँ अपने लिए, अपने द्वारा, अपने पर अपना शासन होता है।



अमरत्व की खोज

ये गीत कितने मनोरम हैं, माँ ! जी चाहता है इन्हें ही सुनता रहूँ। माँ ! ये आज क्यों गाए जा रहे हैं ?

पुत्र ! ये गीत बड़े ही लुभावने हैं और आज अपने पड़ोसी के घर पुत्र का जन्म हुआ है, इसलिए गाए जा रहे हैं।

मैं जन्मा तब भी ये गाये गए होंगे ?

पुत्र ! तुम बड़े सौभाग्यशाली हो। तुम्हारे वैभव के सामने पड़ोसी का वैभव नगण्य है। उन मंगल गीतों के स्वर आज भी कानों में थिरक रहे हैं, जो तुम्हारी जन्म-वेला में कुल-वधुओं ने गाए थे।

कठिनाई से दो घण्टे बीते होंगे। थावच्चा पुत्र विषाद भरा मन लिए माँ के पास आया। माँ! मन को वहुत दुभाने वाले हैं ये गीत। मन करुणा से भर गया है, रुलाई-सी आ रही है। ये क्यों गाए जा रहे हैं, माँ !

बेटा ! इस नश्वर संसार की लीला ही ऐसी है। पड़ोसी के घर जो पुत्र जन्मा वह चल बसा। इसलिए यह आक्रन्द हो रहा है। ये गीत नहीं हैं, पुत्र !

माँ ! जो आता है वह इस प्रकार उठ जाता है !

हाँ वत्स ! यह निश्चित है, जो जन्म लेता है, वह मरता है।

तो मैं भी मरूँगा ?

वत्स ! यह विश्व का नियम है। इसमें कौन अपवाद हो सकता है ?

माँ ! मरना न पड़े, इसका कोई उपाय है ?

है।

तो कौन जानता है ?

भगवान् अरिष्टनेमि जानते हैं।

थावच्चा पुत्र अमरत्व की खोज में चल पड़ा। अरिष्टनेमि की शरण पा वह कृतार्थ हो गया।



: ५ :

जाति का गर्व

हरिकेशी जन्मना चाण्डाल थे। विरक्त हो उन्होंने जैन-दीक्षा स्वीकार की। मुनि की कठोर साधना एवं महान् तपस्या के कारण एक यक्ष उनकी सेवा में रहने लगा। वाराणसी नगरी में यज्ञ हो रहा था। मुनि एक महीने की तपस्या के बाद भिक्षा के लिए आए और वहीं पहुँचे, जहाँ ब्राह्मणों के लिए भोजन बनाया गया था। शरीर से दुबले-पतले, मलिन-वेषधारी, कुरूप व्यक्ति को आते देख ब्राह्मणकुमार बड़े क्रुद्ध हुए और तर्जना के स्वर में बोले—ओ ! तुम कौन हो ? किस लिए आये हो ? चलो-चलो, यहाँ न ठहरो। मुनि शान्त रहे, कुछ भी नहीं बोले। परन्तु यक्ष क्रुद्ध हो उठा। मुनि के शरीर में प्रविष्ट हो बोला—ब्राह्मणकुमारो ! मैं एक भिक्षोपजीवी साधु हूँ। भिक्षा के लिए यहाँ आया हूँ। अच्छे खेत में बीज बोने से अच्छा फल होता है।



ब्राह्मणकुमार बोले—हमें अच्छे खेत की पहचान है। तुमसे हमें कुछ-जानना नहीं है। अच्छे पात्र तो ब्राह्मण ही हो सकते हैं, तुम्हारे जैसे नहीं। चल, जा-जा, यहाँ तुम्हें कुछ मिलने का नहीं।

यक्ष बोला—ब्राह्मणकुमारो ! तुम जिन्हें पात्र कह रहे हो, वे सही अर्थ में पात्र नहीं हैं। क्रोध, हिंसा आदि प्रवृत्तियों में आसक्त रहने वाले कभी पात्र नहीं होते।

ब्राह्मणकुमार बोले—ओ भिक्षुक ! ब्राह्मणों को बुरा-भला कहता है और भिक्षा भी लेना चाहता है, यह कैसी धृष्टता ! यह सब अन्न भले ही नष्ट हो जाए, फिर भी तुझे कुछ नहीं मिल सकता।

यक्ष फिर बोला—जितेन्द्रिय साधु को भिक्षा नहीं दोगे तो तुम्हें यज्ञ का क्या लाभ होगा ?

इस प्रकार यक्ष की विपक्ष, बातें सुन ब्राह्मणकुमार क्रोध से काँप उठे, मुनि को मारने के लिए दौड़े। यक्ष ने बीच में ही उन सबको मूर्च्छित कर दिया। कुमारों की यह दशा देख उपाध्याय दौड़े और मुनि के चरणों में गिर पड़े। मुनि को शान्त करने के लिए बोले—अज्ञानी कुमारों ने आपका अविनय किया है, उन्हें क्षमा करें। आप महर्षि हैं—दया के सागर हैं। यक्ष मुनि के शरीर से दूर हो गया। मुनि अपनी शान्त-मुद्रा में बोले—मेरे न तो पहले क्रोध था और न अब भी है। यह काम मेरी सेवा में रहने वाले यक्ष का है। ब्राह्मण बोले—आप क्रोध नहीं करते, हमें मालूम है। हमारे यहाँ भोजन बना है, उसमें से कुछ भिक्षा ले हमें पवित्र करें। मुनि ने आहार ले मास-तपस्या का पारणा किया।

ब्राह्मणों को अहिंसात्मक यज्ञ का उपदेश दे, मुनि अपने स्थान को चले गए।



: ६ :

छूरी किसके लिए?

वछड़े ने देखा गृहस्वामी उसे सूखी घास खिलाता है और मेंढ़े को ओदन खिलाता है। यह क्रम कई दिनों तक चलता है। एक दिन वछड़े ने कहा—माँ! तुम दूध देती हो फिर भी अपने को सूखी घास मिलती है और यह मेंढ़ा कुछ भी नहीं देता फिर भी इसे वढ़िया माल मिलता है! यह पक्षपात क्यों माँ!!

माँ ने कहा—वेटा! भलाई इसी में है कि थोड़ा लिया जाय और अधिक दिया जाय।

माँ की वात वछड़े के गले नहीं उतर रही थी।

गृहस्वामी आज हाथ में छूरी लिए आ रहा है—यह कहते-कहते वछड़ा काँप उठा। गाय ने कहा—वत्स! डर मत। छुरी उसी के लिए है जिसने मुफ्त में माल खाया है। इधर मेंढ़े के गले पर छुरी चल रही थी और उधर माँ की वात वछड़े के गले उतर रही थी।



: ७ :

प्रलोभन

चम्पा नगरी में माकन्दी नामक एक सार्थवाह रहता था। जिनपाल और जिनरक्षित—ये दो उसके पुत्र थे। ये दोनों भाई बड़े साहसी और व्यापार-कुशल थे। वे ग्यारह बार लवण-समुद्र की यात्रा कर चुके थे। बारहवीं बार फिर उन्होंने समुद्र-यात्रा का विचार कर माता-पिता से उसके लिए आज्ञा माँगी। माता-पिता ने कहा—पुत्रो ! हमारे पास प्रचुर धन है, फिर यह कष्टपूर्ण समुद्र यात्रा किसलिए ? फिर भी उनका बहुत आग्रह रहा, तब माता-पिता ने उन्हें अनुमति दे दी। दोनों वाणिज्य-सामग्री से जहाज भर यात्रा को चल पड़े। समुद्र में सैकड़ों योजन चलने के बाद प्रचण्ड एवं प्रतिकूल पवन चलने लगा। जहाज डगमगाने लगा। देखते-देखते जल के अन्दर छिपे एक बड़े पर्वत की चोटी से वह टकरा गया। जहाज वहीं समुद्र में डूब गया। संयोगवश जहाज की पतवार का एक टुकड़ा दोनों भाइयों के हाथ लग गया। दोनों भाई उसके सहारे तैरते-तैरते पार्श्ववर्ती 'रत्नद्वीप' नामक एक द्वीप में जा पहुँचे। वहाँ उस द्वीप की अधिनायिका रत्नद्वीप देवी नाम की एक रहती थी। वह बड़ी हीन-चरित्र व तुच्छ प्रकृति वाली थी। उसे अवधिज्ञान से इन दोनों के आगमन का पता चला। वह तुरन्त रौद्र रूप धारण कर हाथ में तलवार ले दोनों भाइयों के पास आई और बोली—हे माकन्दी-पुत्रो ! तुम्हें अपना जीवन प्रिय है तो मेरे साथ चलकर

काम-क्रीड़ा करते हुए सुख से रहो, अन्यथा तुम नहीं बच सकते। दोनों भाई बोले—मारना मत, जो तुम कहोगी, वही करेंगे। उन्हें साथ ले वह अपने प्रासाद में आई। उनके साथ विपुल भोग भोगती हुई सुख से रहने लगी। यों बहुत दिन बीत गए। एक दिन लवण-समुद्र के अधिपति 'सुस्थित' की आज्ञा से देवी समुद्र की सफाई के लिए जाने लगी, तब उनसे बोली—मैं कार्यवश जा रही हूँ, जब तक न लौटूं तब तक इसी प्रासाद में रहना। अगर यहाँ तुम्हारा मन न लगे तो पूर्व दिशा वाले उद्यान में जाना, वहाँ भी मन न लगे तो पश्चिम दिशा वाले उद्यान में जाना, किन्तु दक्षिण दिशा वाले उद्यान में कभी मत जाना। वहाँ एक दृष्टि-विष सर्प रहता है, सम्भव है तुम्हे मार डाले। देवी चली गई। वे भी विरह में दुखी बन गए। वे तीनों उद्यानों में गए पर कहीं भी शान्ति नहीं मिली। उन्होंने सोचा, देवी ने दक्षिण उद्यान में जाने की मनाही की है, इसमें कोई रहस्य है। चलो, आज उसी में चलें। दोनों साहस कर उसकी ओर चले। थोड़ी दूर गए कि बड़े जोर से दुर्गन्ध आई। दोनों ने उत्तरीय से नाक ढक लिया और आगे बढ़े।

उद्यान में पहुँचकर उन्होंने एक बड़ा वध-स्थान देखा। उस भयानक स्थान पर उन्होंने शूली पर चढ़े हुए एक पुरुष को देखा। उसे देख दोनों डरे पर आखिर हिम्मत कर उसके पास गए। वे बोले—भाई! यह वध-स्थान किसका है? तुम कौन हो? यह अवस्था कैसे भुगत रहे हो?

शूली पर लटके हुए पुरुष ने कहा—यह स्थान रत्नदेवी का है। मैं काकन्दी का नागरिक हूँ। घोड़ों का व्यापार करने के लिए समुद्र-यात्रा में निकला था। पोत टूट गया। मैं पतवार के सहारे इस द्वीप के किनारे आ लगा। देवी मुझे ले आई। मैं उसके साथ सुख भोगता हुआ रहने लगा। एक दिन थोड़े से अपराध से क्रुद्ध हो उसने मुझे शूली पर लटका दिया। आखिर तुम्हारी भी यही दशा होगी।

दोनों भाई डरे और बोले—क्या कोई रक्षा का उपाय है?

पूर्व के वन-खण्ड में एक सेलक नाम का यक्ष है। वह तुम्हें बचा सकता है—उस पुरुष ने कहा। दोनों भाई वहाँ गए।

समय आने पर सेलक प्रकट हो बोला—मैं किसका त्राण करूँ, किसका पालन करूँ ? दोनों भाई तुरन्त बोल उठे—हमें बचाओ, हमारा पालन करो। यक्ष बोला—भद्रो ! तुम मेरे साथ चलोगे, तब वह देवी तुम्हें अनुकूल-प्रतिकूल कष्ट देगी। उस समय तुम उसके प्रति दया दिखाओगे तो मैं तुम्हें अपनी पीठ पर से नीचे गिरा दूँगा। तुम विचलित न होवोगे तो मैं तुम्हें अभीष्ट स्थान पहुँचा दूँगा। दोनों ने यक्ष की शर्त सहर्ष स्वीकार कर ली। यक्ष ने अश्व का रूप धारण किया। दोनों भाई पीठ पर चढ़ गए। वह आकाश-मार्ग से चम्पा की ओर चला। उधर रत्नदेवी काम कर वापस आई। माकन्दीपुत्र वहाँ न मिले। तब ज्ञान से सारी बात जान ली। तुरन्त वहाँ से चली और उनके पास जाकर उन्हें डराने लगी। वे डरे नहीं तब करुणा के गीत गाने लगी। जिनरक्षित उसका दयनीय आलाप सुनकर विचलित हो गया। उसके हृदय में देवी के प्रति करुणा के भाव पैदा हो गए। यक्ष को जब यह मालूम हुआ तब उसे भ्रष्ट-प्रतिज्ञ जान वहीं नीचे गिरा दिया। वह समुद्र में गिरा नहीं उससे पूर्व ही देवी ने उसे दोनों हाथों में पकड़ कर ऊँचा फेंक, खड्ग में पिरो, टुकड़े-टुकड़े कर बुरी तरह से मार डाला। जिनपाल को चम्पा में पहुँचाकर यक्ष वापिस चला गया। जिनपाल अपने माता-पिता से जा मिला।



: ८ :

लकड़हारा

एक अकिंचन मुनि हाथ में भिक्षा की झोली लिए चला जा रहा था। महामंत्री अभयकुमार ने देखा और तत्परता से वह नीचे उतरा। दोनों घुटने जमीन पर टिक गए, जुड़े हुए हाथों ने भूमि को छूआ और महामंत्री का सिर मुनि के चरणों में लेट गया। मंत्रीगण विस्मय के साथ इस घटना को देखते रह गए। बहुत रोकने पर भी हँसी रुकी नहीं। अभयकुमार खड़ा हुआ और धन्य है आपका त्याग, धन्य है आपकी तपस्या, धन्य है आपका वैराग्य—इन शब्दों में मुनि की स्तवना की। मंत्रियों में कानाफूसी होने लगी। मुनि आगे चले गए। अभयकुमार मंत्रियों के साथ सभा-भवन में चला गया। सभा-कार्य शुरू हुआ और समय की अविरल गति ने उसे पूरा भी कर दिया, पर मंत्रियों के मन अब भी सन्देह से भरे थे। महामंत्री के अनादर का भय उनके अन्तर को कचोट रहा था। महामंत्री की बुद्धि को वे सम्राट् से भी अधिक शक्तिशाली मानते थे। महामन्त्री का अनुग्रह पाए बिना उनके पैर घर की ओर नहीं बढ़ रहे थे और उस प्रसंग को चलाने का साहस भी नहीं हो रहा था। महामंत्री ने उनके अन्तर-द्वन्द्व को समझ लिया। गम्भीर मुद्रा में कहा —

क्या मैं आप लोगों की हँसी का कारण जान सकता हूँ ?

हँसी ! मंत्रियों ने अन्तर की भावना को छिपाते हुए कहा।

महामंत्री—हाँ, हँसी ?

मंत्रीगण—कब की बात है ?

महामन्त्री—अभी की बात है, अधिक समय नहीं हुआ है।

मन्त्रीगण—नहीं, कोई खास बात तो नहीं थी।

महामन्त्री—खास बात तो नहीं, पर जब मैं मुनि को वन्दना कर रहा था........

मन्त्रीगण—हाँ, हाँ वैसे ही।

महामन्त्री—वैसे ही का तो कोई हेतु हो सकता है !

मन्त्रीगण—हेतु तो......

महामन्त्री—साफ कहिए न !

मन्त्रीगण—साफ तो .. ...!

महामन्त्री—मैं अभय देता हूँ, जो मन में हो साफ कहिए।

अभयदान से मंत्रियों के मन आश्वस्त हुए। वे बोले—महोदय ! आप उस मुनि के चरणों में जा लुटे जो कल तक लकड़हारा था। महामान्य ! हमें उस समय और आश्चर्य हुआ जब आपने उसके त्याग और तप को सराहा। जिसका घर था नगर का राजमार्ग और सर्वस्व था लकड़ी का गट्ठा, उसका त्याग महामंत्री सराहे, भला इससे बढ़कर और क्या अचरज हो।

अभयकुमार ने आश्चर्य की मुद्रा में कहा—त्याग की प्रसंशा भी भला अचरज की बात है ! मैं आप लोगों में से उन लोगों को तीन-तीन करोड़ मुद्राएँ दूँगा जो अग्नि का प्रयोग नहीं करेंगे, कच्चा जल नहीं पीयेंगे और स्त्री का सेवन नहीं करेंगे। मन्त्रियों ने कहा—इनके बिना उन मुद्राओं का अर्थ ही क्या ?

अभयकुमार इसका अर्थ यही कि उस लकड़हारे ने इन तीन करोड़ मुद्राओं को त्यागा है।

अब मंत्रियों के पास अपनी भूल पर पछतावा करने के सिवा शेष कुछ नहीं था।



: ९ :

क्रोध को विफल करो

एक कुल-पुत्र के भाई को शत्रु ने मार डाला। उसकी माता ने कहा—पुत्र ! जाओ अपने भाई की मृत्यु का बदला लो। मेरे पुत्र-घातक को मार डालो ! वह माता का आशीर्वाद ले घर से निकला। पौरुष टूट रहा था। 'वैर से वैर शान्त होता है'—यह विचार उमड़ रहा था। जिसमें करने का संकल्प होता है, उसके लिए क्या नहीं सम्भव होता ! वह अपने भाई के हत्यारे को पकड़, माँ के पास ले आया। वह उस हत्यारे को मारने के लिए उतावला हो रहा था। उसने म्यान से तलवार निकाली। उससे पूछा—बोल,तुझे कहाँ मारूँ ? उसने काँपते स्वर में कहा—जहाँ शरणागत मारे जाते हैं। यह सुनकर वह अवाक् रह गया। पैरों से धरती खिसकने लगी। उसने माँ की ओर देखा। माता ने कहा—पुत्र ! शरणागत को नहीं मारा जाता।

वह बोला—माँ ! मैं अपने क्रोध को कैसे सफल करूँ ?

माता ने कहा—पुत्र ! क्रोध को सब जगह सफल नहीं करना चाहिए।

तलवार म्यान में चली गई। हत्यारे का सिर झुक गया।



: १० :

दो चित्रकार

राजा का आदेश हुआ और दोनों चित्रकार चित्रशाला के विशाल कक्ष में पहुँचे। चित्रकारी के लिए कक्ष को दो भागों में बांट लिया। आधे में एक चित्रकार रंग और कूची में अपनी सभी प्रवृत्तियों को एकाग्र किए हुए था और आधे में दूसरा चित्रकार घुटाई में जुट रहा था। बीच में कनात तनी हुई थी। दोनों अपनी-अपनी सीमा में धूनी रमा रहे थे। दोनों में स्पर्धा थी और दोनों एक दूसरे के कार्य से अजानकार थे। ये भले ही अजानकार हों पर समय बहुत बड़ा जानकार है। वह ठीक समय पर अपनी सूई घुमा देता है। समय की सूई घूमी, छह मास बीते और राजा ने चित्रशाला देखने की आतुरता प्रकट की। चित्रकार आखिर चित्रकार थे। वे समय की रेखाओं को जितनी गहराई से पढ़ सकते थे, उतनी ही गहराई से वे राजा की भृकुटी की रेखाओं को पढ़ना जानते थे। राजपुरुष आए और राजा के निरीक्षण की सारी व्यवस्था कर दी। राजा पहले चित्रकार के कक्ष में पहुँचा। उसकी चित्रकला देख वह मंत्रमुग्ध हो गया। अब दूसरे की बारी आई। राजा ने उसके कक्ष में पैर रखा कि वह स्तब्ध-सा रह गया। उसमें एक भी चित्र नहीं था। राजा का मन क्रोध से भर गया। तुम अपराधी हो चित्रकार ! तुमने मेरे आदेश की अवहेलना की है। छह मास की अवधि पूर्ण हो गई और अभी तुम्हारा काम शुरू ही नहीं हुआ है। तुम जानते हो चित्रकार ! राजाज्ञा की अवहेलना करने वाला मृत्युदण्ड पा सकता है।

चित्रकार ने विनम्र स्वर में कहा—हाँ, महाराज ! मैं जानता हूँ। राजा—तो इतना प्रमाद तुमने किसलिए किया ?

चित्रकार—महाराज ! अप्रमादी होना तो बहुत बड़ी बात है, पर मैं प्रमादी तो नहीं हूँ।

राजा—मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया है, फिर भी तुम अपराधी नहीं हो ?

चित्रकार—महाराज ! मैंने आपकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया है।

राजा—तुम क्या कह रहे हो ?

चित्रकार—हाँ मैं सच कह रहा हूँ।

राजा—मैं अकेला नहीं हूँ, ये सब लोग देख रहे हैं। अपने साथियों की ओर मुड़कर राजा ने कहा—आप सब लोग क्या कह रहे हैं, क्या इसने मेरी आज्ञा की अवहेलना नहीं की है ? वे सब एक स्वर में बोल उठे—हाँ महाराज ! आप सच कह रहे हैं, इसने आपकी आज्ञा की अवहेलना की है। इस वातावरण के उपरान्त भी वह चित्रकार धीर बना रहा। उसने सबके अभिमत को स्वीकार करने के लिये सिर नहीं हिलाया। सब लोगों को उसकी हठधर्मिता पर अचम्भा हो रहा था। राजा की अंतिम चेतावनी का उत्तर भी उसने उसी भाव में दिया कि मैंने राजाज्ञा की अवहेलना नहीं की है।

राजा ने कहा—तो इसका प्रमाण देना होगा। इसका प्रमाण दूँगा और सबके सामने दूँगा—चित्रकार के इस स्वर से विशाल कक्ष गूंज उठा। चित्रकार थोड़ा पीछे सरका और पर्दे को उपर उठाया। चित्रशाला का कण-कण चित्रों से अंकित हो गया। राजा मंत्री का मुख देखने लगा और मंत्री राजा का। किसी के मुँह में जबान नहीं थी। सब अपने को स्वप्न की सी स्थिति में पा रहे थे।

राजा ने मृदु स्वर में पूछा—चित्रकार ! कहो तो यह क्या माया-जाल है तुम्हारा ?

चित्रकार—माया-जाल कुछ भी नहीं है, यह घुटाई का चमत्कार है महाराज ! भित्ति तैयार हो तो चित्र अपने आप बन जाते हैं।



: ११ :

स्वर्ग और नरक

मगध सम्राट् ने पूछा—भन्ते ! राजर्षि प्रसन्नचन्द्र कठोर तप कर रहे हैं। ध्यान-मुद्रा में लीन हैं। उनकी गति क्या हो, यदि वे इस समय काल-गति को प्राप्त हो जाएँ ? भगवान्—पहला नरक।

सम्राट्—पहला नरक ! तो फिर स्वर्ग किसे मिलेगा ? सम्राट् का मन कुतूहल से भर गया। भगवान् की वाणी पर सन्देह भी तो कैसे किया जाय और यह समझ में भी नहीं आता कि ऐसी तपस्या करने वाला मरकर नरक में जाय। सम्राट् जिज्ञासा को रोक नहीं सका। फिर पूछा—भगवन् ! यदि अब वे काल-धर्म को प्राप्त हो जाँय तो उनकी क्या गति होगी ?

भगवान्- दूसरा नरक। सम्राट् की जिज्ञासा बढ़ती गई। भगवान् उत्तर देते गए। आखिर प्रश्न का उत्तर सातवें नरक तक पहुँच गया। नीचे जाने का द्वार अब बन्द था। पर जिज्ञासा का द्वार अब चौड़ा हो रहा था।

सम्राट्—भगवन् ! अब क्या गति हो ?

भगवन्—पहला स्वर्ग।

सम्राट्- बड़ी कठिनाई है भगवन् ! आपकी वाणी में काल और तर्क क्षीण हो रहा है, किन्तु अब ?

भगवान्—दूसरा स्वर्ग।

क्रम बदल गया। उत्तर नीचे से ऊपर जाने लगा। सम्राट् की जिज्ञासा नहीं बदली। स्वर्गों की सीमा पार कर भगवान् ने कहा—राजर्षि अब केवली हो गए हैं। उनकी गति अब मोक्ष है।

सम्राट्—भन्ते ! अब धीरज का बाँध टूट रहा है। आखिर यह है क्या ? जिज्ञासा का धागा अब और अधिक नहीं खींचा जा सकेगा।

भगवान् ने कहा—श्रेणिक ! राजर्षि प्रसन्नचन्द्र राजमार्ग के पास ही खड़े थे। एक पैर दूसरे पैर पर टिका हुआ था। हाथ ऊपर की ओर थे।

शरीर तना हुआ सीधा—सरल था। कोरी ध्यान की मुद्रा ही नहीं मन भी एकाग्र हो रहा था।

तुम गुरु-वन्दना के लिए जा रहे थे। अग्रिम दल के राजपुरुष प्रसन्न-चन्द्र को देख कहने लगे—देखो! यह कैसा आदमी है, राज्य छोड़कर चला आया! आँखें मूंदे खड़ा है। इसे क्या पता, पीछे क्या हो रहा है। शत्रुओं ने इसके पुत्र से राज्य छीन लिया है।

राजर्षि जो आत्मा में ही रम रहे थे, एक झटके में ही बाहर आ गए। उनका मन युद्ध-भूमि की परिक्रमा करने लगा। मुद्रा वही रही, पर मन वह नहीं रहा। कल्पना के उतार-चढ़ाव में वे सागर की उर्मियों को पराजित कर रहे थे।

इधर राजर्षि का मन समरांगण में पहुँच शत्रु-सेना का संहार करने में तीव्रता ला रहा था। उधर तुम्हारी जिज्ञासा बढ़ रही थी। इधर मेरा उत्तर सतत् नरक की ओर प्रगति कर रहा था। उधर तुम्हारा कुतूहल सीमा पार पहुँच रहा था। इतने में क्या होता है कि पिछले दल के राजपुरुष आए। राजर्षि को देख कहने लगे—धन्य हो तुम राजर्षि! जो राज्य-सम्पदा को ठुकरा कर मुनि बने हो। सफल है तुम्हारा जीवन, सफल है तुम्हारा जन्म और सफल है तुम्हारी भावना।

राजर्षि एक झटके में ही फिर बाहर से भीतर चले आए। मन युद्ध-भूमि को छोड़ अपने स्थान में आ गया। वहाँ पहुँचकर देखा कि कोई शत्रु है ही नहीं, फिर राज्य कौन छीने? शत्रु कोई नहीं है, फिर युद्ध किससे किया जाय! यह मन ही तो शत्रु है जो बार-बार भटक जाता है, दूसरों के पीछे-पीछे चला जाता है। फिर इसे ही क्यों न जीता जाए? समर-भूमि बदल गई।

इधर राजर्षि मन की अस्थिरता का संहार करने में तीव्रता ला रहे थे, उधर तुम्हारी अधीरता बढ़ रही थी। इधर मेरा उत्तर सतत् स्वर्ग की ओर प्रगति कर रहा था, उधर तुम्हारा कुतूहल सीमा पार पहुँच रहा था।



: १२ :

उपेक्षा

दो गिरगिट लड़ रहे थे। जंगल बोल उठा – उपेक्षा मत करो, उपेक्षा मत करो ! सुना सबने, ध्यान किसी ने नहीं दिया। दुपहरी का समय था। तालाब के किनारे हाथियों का झुण्ड बैठा विश्राम कर रहा था। वनचर-जीव इधर-ऊधर घूम रहे थे। पानी और हरियाली धूप और छाया की भांति परस्पर मिल रही थीं।

गिरगिट आगे बढ़े। यूथपति के पास जा पहुँचे। गड्ढा समझ दोनों उसके नासा-छेदों में घुस गए। हाथी चौंका। सिर को खुजलाया। वे दोनों घूमते रहे। हाथी खुजलाता रहा। वह झुँझला उठा। वृक्षों को तोड़ गिराने लगा। वन्य-जन्तुओं को पछाड़ फेंका। तालाब की पाल को गिरा दिया। पानी बह चला। जंगल उजड़ गया। स्थलचर प्राणी बह गए। तालाब खाली हो गया। जलचर जीव तड़पते रह गए। 'किसने कहा उपेक्षा मत करो'– यह पूछने के लिए भी वहाँ कोई नहीं बच गया था।



: १३ :

कसौटी

कुर्सी एक है, लिप्सु अनेक। राजनीति आज इसी संकट का सामना कर रही है।

रोग एक है, चिकित्सक अनेक। स्वास्थ्य आज इसी संकरी पगडण्डी से गुजर रहा है।

शास्त्र एक है, व्याख्याता अनेक। आज का मानस इसी द्विविधा का भोग कर रहा है।

जीत उनकी होती है, जो एक को अनेक में देख सकें। वह हार जाता है, जो एक में अनेक को देखता है।

एक समय की बात है। राजा को सैन्य बढ़ाने की आवश्यकता हुई। मंत्री को आदेश मिला। संयोग की बात, एक सैनिक-टोली वहाँ आ पहुँची। मंत्री ने परीक्षा की योजना की। सैनिक विशाल कक्ष में प्रविष्ट हुए। वे थे पाँच सौ और खाट थी एक। उस पर सोने के लिए विवाद होने लगा। सबने अपनी-अपनी गुण-गाथाएँ गाईं, अपना-अपना बखान किया और उस पर सोने के लिए अपना-अपना अधिकार जताया। विवाद पूरा नहीं हुआ, रात पूरी हो गई। खाट के लिए सब लड़े, पर खाट किसी के काम नहीं आई। सूर्योदय के साथ-साथ आदेश मिला--आप लोग चले जाइए। हमारी सेना का द्वार उनके लिए बन्द है, जो एक के लिए अनेक होते हैं।

थोड़े दिनों बाद फिर एक दूसरी टुकड़ी आई। उसमें भी पूरे पाँच सौ सैनिक थे। उन्हें भी वही कक्ष मिला और वही खाट। आग्रह होने लगा, मनुहारों का तांता लग गया। एक दूसरे ने एक दूसरे को बड़ा बताया, पर उस पर सोने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ। आखिर समझौता हुआ—खाट को प्रधान माना और सब-के-सब उसकी ओर सिरहाना कर सो गए। सूर्योदय के साथ-साथ नियुक्ति का आदेश आया। उसमें लिखा था—हमारी सेना का द्वार उनके लिए सदा खुला है जो एक के लिए एक होते हैं।



: १४ :

गधे की पूँछ

एक लड़के ने एक बार गधे की पूँछ पकड़ ली। गधा घबड़ाया। दुलत्ती से पद-प्रहार करने लगा। वह उसे सहता रहा। यह विचित्र दृश्य देख लोग इकट्ठे हो गए। उन्होंने उसे समझाया, पर उसने किसी की नहीं सुनी। सब उसकी मूर्खता पर खिन्न थे।

एक बूढ़ा आदमी आगे बढ़ा। उसने विनम्र स्वर में कहा—भले लड़के! व्यर्थ ही यह मार क्यों सह रहा है? गधे की पूँछ को छोड़ क्यों नहीं देता?

लड़का विवशता के स्वर में बोला—मेरी माँ ने मुझे यही सिखाया है कि जिसे पकड़ ले, उसे छोड़ना नहीं बेटे!



: १५ :

बैल और गधा

एक सेठ के घर पर दो पण्डित आए। दोनों थे पढ़े हुए और दोनों थे ईर्ष्यालु। सेठ उन्हें कुछ देना चाहता था। उसने परीक्षा करनी चाही। एक पण्डित बाहर आया तब सेठ ने दूसरे से पूछा—महाराज! उस पण्डित का परिचय क्या है? पण्डित बोला—सेठजी! मुझसे मत पूछो। पण्डित कौन है? वह तो बना-बनाया बैल है। बात पूरी नहीं हुई कि पण्डितजी बाहर से आ गए।

थोड़ी देर बाद दूसरे पण्डितजी बाहर गए। सेठ ने पहले पण्डित से उनका परिचय पूछा। वह बोला—पण्डित कौन है? वह तो बना-बनाया गधा है।

सेठ घर के प्राँगण में गया। एक कुण्डी में चारा और एक में भूसा डाल बाहर आया। उन्हें भोजन के लिए निमंत्रित किया। वे घर में गए। कुण्डों को देख उबल गए। रूखे स्वर में बोले—लक्ष्मी के द्वारा विद्या का अपमान बहुत भयंकर होता है। सेठ ने कहा—महाराज! मैंने तो कोई अपमान नहीं किया। आपने जो परिचय दिया, उसी के अनुसार बैल के लिए चारा और गधे के लिए भूसा है। दोनों पण्डित एक दूसरे को ताकते रह गए।



: १६ :

अनुपम

एक यात्री था। उसने गांव के पास रसोई करने की सोची। समतल आंगण था, उसे बुहार कर साफ किया। गोबर लीपा। चौका बना, ईंधन लाने गया। वह घूमघाम कर वापस आया। उसने देखा—चौके में गधा बैठा है। वह बोला—गर्दभराज ! कोई दूसरा होता तो मैं उसे गधा कहता, पर तुम्हें क्या कहूँ, अनुपम जो हो ?



: १७ :

अन्याय की जड़ गहरी नहीं होती

मेरी भैंस पड़ोसी ने चुरा ली है—सेठ ने पंचों से शिकायत की। पंचों ने उसे बुलाया और सेठ की भैंस लौटाने को कहा। वह बोला—लौटाऊँ कहाँ से ? मैंने भैंस चुराई ही नहीं। पंचों ने उसकी बात नहीं मानी। आखिर परीक्षा लेने का निर्णय किया। पंच उसके घर आए। लोहे के गोले को गर्म किया। संडासी से पकड़ उसके हाथ पर रखने लगे। उसने हाथ पर तवा रख लिया। पंचों ने उसे हटाने को कहा। वह बोला पंचों का हाथ तो मेरा भी हाथ। पंचों की संडासी और मेरा तवा। इतने में भैंस बोल उठी। नोहरे का दरवाजा खुला और निर्णय अपने आप हो गया।



: १८ :

सीमा

एक दिन एक राजा के पैर में कांटा चुभ गया। बहुत पीड़ा हुई। उसने सोचा—जैसे मेरे पैर में कांटा चुभा, वैसे औरों को भी चुभता होगा? चिन्तन में डुबकी लगाते-लगाते उसने मंत्री को बुलाया। वह उपस्थित हुआ। राजा ने कहा—मंत्री! मेरे आदेश का पालन करो और समूची पृथ्वी पर चमड़ा मंढ़ा दो, जिससे किसी के पैर में कांटा न चुभे। मंत्री ने मुस्कुराते हुए कहा—यह असंभव है महाराज! सब लोग अपने-अपने पैरों में चमड़ा पहनलें, पृथ्वी अपने आप चमड़ा-मँढ़ी हो जायगी।

गर्मी के दिन थे। दुपहरी की वेला थी। चिलचिलाती धूप थी। सूरज अग्नि फेंक रहा था। राजा को बाहर जाना पड़ा। उसे बहुत कष्ट हुआ। उसने सोचा—जैसे मुझे धूप में कष्ट हुआ, वैसे औरों को भी होता होगा? कितना अच्छा हो मैं समूचे आकाश को वस्त्र से आच्छादित कर दूं। मंत्री से कहा—मेरी आज्ञा का पालन करो और समूचे आकाश में चंदोवा तान दो, जिससे किसी को धूप न लगे। मंत्री ने मुस्कुराते हुए कहा—यह असंभव है महाराज! सब लोग अपने-अपने सिर पर छत्ता रख लें, चंदोवा अपने आप तन जाएगा।



: १६ :

व्यक्तिवाद

एक सेठ धन कमाने परदेश गया। लम्बी अवधि तक घर नहीं आया। पत्र पर पत्र आते रहे। सेठ उनकी उपेक्षा करता रहा। बारह वर्षों के बाद वह लौट रहा था। बीच में एक धर्मशाला में विश्राम किया। रात हुई सेठ लेट गया। इतने में रोने की आवाज आई। इधर रात बढ़ रही थी, उधर वह आवाज बढ़ रही थी। सेठ की नींद भंग हो रही थी। सेठ ने अपना आदमी भेजा जाँच कराने के लिए। उसने सूचना दी—पास के कमरे में एक लड़का ठहरा हुआ है। उसके पेट में पीड़ा हो रही है। वह चिल्ला रहा है। सेठ मौन रहा।

थोड़ी देर बाद फिर अपने आदमी से कहा—जाओ उसे समझाओ, वह रोए नहीं, मुझे नींद नहीं आ रही है। आदमी कह आया, पर रोना रुका नहीं और तेज हो गया। सेठ फुफकार उठा। उसने अपने परिचारकों से कहा—उसे धर्मशाला से निकाल दो। जंगल का न्याय कब नहीं चलता? परिचारक गये और उस लड़के तथा उसके परिचारक के बिस्तरे बाहर फेंक दिए। रात ढल रही थी। घर के भीतर भी लोग ठिठुर रहे थे। बाहर निकलने की कामना भी कठिन थी। सेठ आराम से सो गया। प्रातःकाल उठा। ये कहने से नहीं मानते, कुछ आ बीतती है तभी मानते हैं—कहते-कहते सेठ ने मुख

की सांस ली। उसका गर्व सीमा पार कर गया। बोला—पहले शान्त रहता तो बाहर क्यों जाना पड़ता ? परिचारक बोला—शान्त तो वह मरकर ही हुआ है।

क्या मर गया ?

जी, मर गया।

कौन था वह ?

आप ही जानें।

सेठ उठा, बाहर आया। उसने परिचारक से पूछा—गांव, नाम और पिता का नाम। सेठ के प्राण भीतर के भीतर और बाहर के बाहर रह गए। अब वह अपने पुत्र के लिए आँसू ही बहा सकता था।



: २० :

आभास

दो विद्यार्थी थे। वे परस्पर मित्र बन गए। एक था धनी बाप का बेटा और दूसरा था गरीब। जो गरीब था उसकी बुद्धि प्रखर थी। धनी की बुद्धि मन्द थी। दोनों में गहरी मित्रता हो गई! धनी का बेटा सदा दूध पीकर जाता। उसने भी अपनी माँ से कहा—माँ! दूध पिला, नहीं तो मैं पढ़ूंगा नहीं। माँ बेचारी संकट में पड़ गई। रोटी की ही कठिनाई तब भला दूध कहाँ से आए! मां ने जैसे-तैसे! समझाया और अगले दिन पिलाने की हां भरली।

बच्चे ने दूध पीया। वह सफेद और मीठा था। उसने गर्व के साथ मित्र से कहा—आज मैं भी दूध पीकर आया हूँ। एक दिन मित्र के आग्रह पर दूध पीने उसके घर गया। दो प्याले आए। घर की गायों का दूध। एक उफान का। मिश्री मिली हुई। पिया तो उसकी आँखें खुल गईं। उसने मित्र को निमंत्रण देने का साहस ही नहीं किया। घर लौट आया। दिन बीता, रात बीती। सवेरा हुआ। मां ने दूध पिलाने को बुलाया। उसने गिलास को ठोकर मारते हुए कहा—माँ! जो दूध पी चुका, वह इस आटे के धोवन को कैसे पीएगा?



: २१ :

विपर्यय

इस दुनियाँ में सम्यक् कम है, विपर्यय अधिक। रोग कहीं है और चिकित्सा कहीं। भूख कहीं है और भोजन कहीं। चाह कहीं है और राह कहीं। और क्या शस्त्र बनते हैं शान्ति के लिये! आवश्यकताएँ बढ़ती हैं जीवन-स्तर को उँचा उठाने के लिए! हर विवशता विपर्यय को जन्म देती है। इसी महागीत की कुछ कहानियाँ हैं—

(१)

बुढ़िया रेत की ढेरी में कुछ खोज रही थी। पड़ोसी ने पूछा—दादी! आज क्या कर रही हो?

बेटा! सुई ढूँढ़ रही हूँ।

कहाँ गुम हो गई दादी?

बेटा! घर में।

फिर यहाँ गली में कैसे ढूंढ़ रही हो?

क्या करूँ बेटा! प्रकाश यहीं है, जहाँ गुम हुई थी, वहाँ अंधेरा है।

(२)

एक आदमी पीठ पर दवा मसल रहा था, पड़ोसी ने पूछा—बाबा! क्या हो गया है?

बेटा ! आँख दुःख रही है।

तो दवा पीठ पर क्यों मसल रहे हो ?

क्या करूँ बेटा ! यहाँ वह जलती नहीं, आँख में बहुत जलती है।

(३)

ऊँट रोगी हो गया है। वैद्य ने सुझाया—इसकी थूही पर दाग लगा दो—किसान ने लोहे की सींके गरम कीं। दागने लगा पास में खड़े बैल को। वैद्य ने कहा—यह क्या करते हो ?

करूं क्या महाराज ! हाथ इसी थूही तक पहुँचता है, ऊँट की थूही तक पहुँचता नहीं।



: २२ :

वरदान या अभिशाप

प्रसिद्ध वैज्ञानिक अलवर्ट आईस्टीन ने कहा था—तीसरा विश्वयुद्ध कितना भयंकर होगा, उसकी रूपरेखा मैं आपको नहीं बता सकता। किन्तु यह मैं बता सकता हूँ कि यदि चौथा महायुद्ध होगा तो वह पत्थरों से लड़ा जाएगा।

विज्ञान के चरण इसी प्रकार संहार की ओर बढ़ते गए तो भावी पीढ़ी यही प्रार्थना करेगी—हम मूल में जैसे थे, वैसे बन जाएँ। हमें नहीं चाहिए उसका विनाश करने पर तुला हुआ शक्ति-बीज।

घटनाओं के इस महान् आवर्त्त में एक बार ऐसा ही हुआ था। किसान की पत्नी ने देखा, तालाब की पाल पर कोई जोगी बैठा है। उसका मन श्रद्धा से भर गया। उसने नमस्कार कर पूछा—आप कौन हैं, महाराज? जोगी ने उत्तर दिया—मैं सिद्ध पुरुष हूँ। किसान की पत्नी ने पूछा—आप मुझे कुछ देंगे? जोगी बोले—हां, एक बार तुम जो मांगो वही दे सकता हूँ। बहुत चिन्तन के बाद किसान की पत्नी ने रूप मांगा। जोगी ने जैसे ही 'तथास्तु' कहा, वैसे ही वह अप्सरा बन गई।

खेत पास में ही था। वह अब झूमती हुई वहाँ आई। किसान ने देखा—कोई वनदेवी आ रही है। वह झुका, साष्टांग दण्डवत् करते हुए पैरों में लुट गया। उसके बहुत समझाने पर ही वह उसे अपनी स्त्री मानने को तैयार हुआ।

वह उसकी वुद्धि पर खीज उठा। दौड़ा-दौड़ा जोगी के पास पहुँचा। प्रणाम कर, वर मांगा। जोगी ने कहा—एक वार जो चाहो सो मांग सकते हो।

किसान वोला—मेरी स्त्री को गदही वना दें। 'तथास्तु' के साथ-साथ अप्सरा गदही हो गई। सारा खेत उसकी कण्ठ-कला से गुंजित हो गया। किसान का वेटा भागकर आया। देखा तो समझ नहीं सका। माँ खेत में नहीं है। गदही उसे खा रही है। वाप खड़ा-खड़ा देख रहा है। आगे वढ़ा और वाप से वोला—गदही खेत खा रही है फिर आप खड़े-खड़े···? किसान वोला—खड़ा-खड़ा नहीं देखूं तो क्या तुम्हारी माँ को मार डालूँ? वह स्तब्ध सा रह गया। वाप के पास आया। जो वीता वह जाना। वह आँखों में आंसू लिए जोगी के पास पहुँचा। रूआँसे से मुँह से उसने वर माँगा—महाराज! हमें तो आप मूल के ही वना दीजिये, पहले जैसे थे वैसे ही वना दीजिए।



: २३ :

जनतंत्र का चिर सत्य

भगवान् महावीर ने कहा था—अल्प के लिए बहुत को मत गंवाओ। गौण के लिए प्रधान को मत खपाओ। प्रधान की आराधना करने वाले को गौण सहज ही मिल जाता है। किन्तु गौण की आराधना करने वाला प्रधान की सारी समृद्धि से वंचित रह जाता है। आज के जन-सेवक जनतंत्र के पुजारी इस चिर सत्य को भुलाएँ नहीं।

पुराने जमाने की बात है। एक था राजा और चार थीं उसके रानियाँ। एक बार वह राजा दूसरे देश में गया। लम्बे समय तक वहाँ रहा। रानियाँ प्रतीक्षा में अधीर हो उठीं। पत्र-व्यवहार चल ही रहा था। समाचार आया—महाराज अब आने ही वाले हैं। रानियों ने बधाई में पत्र लिखे और अपनी-अपनी माँग भी लिखी। राजा आया। राजधानी हर्ष से झूम उठी। रनिवास प्रफुल्ल हो गया। राजा अन्तःपुर में आया। बातचीत चली। विरह प्रमोद में लीन हो गया। अंत में राजा ने पुरस्कार बाँटा। बड़ी रानी को मोतियों का हार मिला। दूसरी को नेउर और तीसरी को कर्णफूल। चौथी को वह सब मिला जो राजा अपने साथ लाया था। सोई ईर्ष्या जाग उठी। तीनों रानियाँ एक स्वर में बोल उठीं—हैं! न्याय के आसन पर यह अन्याय की परछाईं। राजा ने मुस्करा दिया। रानियों ने प्रतिकार की भाषा में कहा—

पुरुष की छल-भरी मुस्कान ही स्त्रियों में ईर्ष्या उत्पन्न करती है। राजा ने फिर मुस्कान बिखेरी। रानियाँ जल-भुन उठीं। दुपहरी से सफेद अन्याय को वे सह न सकीं। उनका चेहरा तमतमा उठा। राजा ने देखा अब बाँध टूट चुका है। 'इसका न्याय सभा में होगा' यह कहते-कहते राजा खड़ा हो गया।

कई महीनों बाद राजा को सभा में देख सभासद् हर्षोत्फुल्ल थे। शिष्टाचार सम्पन्न हुआ। राजा न्याय के आसन पर जा बैठा। अपना घरेलू झगड़ा सभा के सामने रखा। लोग आश्चर्यचकित थे। मन में नाना प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हो रही थीं। तीनों रानियाँ अपनी सफलता पर फूल रही थीं। वातावरण शान्त था। मौन और केवल मौन। साँस भी भीतर रुक रहे थे। सभी सभासद् चिन्तन की मुद्रा में थे। राजा का संकेत पा सचिव खड़ा हुआ। नीरवता को भंग करते हुए उसने बड़ी रानी का पत्र पढ़ा। उसमें था—आप आएँ तब मेरे लिए मोतियों का हार लेते आएँ। दूसरा पत्र पढ़ा। उसमें था—आप आएँ तब मेरे लिए नेउर लेते आएँ। तीसरे पत्र में था—बड़ा अनुग्रह होगा यदि आप मेरे लिऐ कर्णफूल लाएँ तो। अब चौथे पत्र की बारी आई। उसमें था—मेरें लिए आप ही सब कुछ हैं। मैं और कुछ नहीं चाहती, केवल आपको चाहती हूँ। मेरी हार्दिक प्रार्थना है कि अब आप तुरन्त आने की कृपा करें।

शेष सब बोल रहे थे, केवल तीन रानियाँ मौन थीं।



: २४ :

दण्ड या अन्तर्ज्योति

कुछ लोग दण्ड द्वारा सुधार चाहते हैं। पर अन्तर की ज्योति जले विना वह कब संभव है? अध्यात्म का साहित्य इसी सत्य की प्रतिध्वनि है।

एक बार एक सास ने कहा—बहूरानी! ध्यान रखना घर में अंधेरा न घुस जाए? मैं अभी बाहर जा रही हूँ। सूर्य अस्त होने को था। बहू ने सावधानी बरती। सारी खिड़कियां बन्द कर डालीं। लाठी लेकर दरवाजे पर बैठ गई। अंधेरा यों कब मानने वाला था। वह तो आ ही घुसा।

पहर रात बीती और सास आई। उसने देखा—घर में अंधेरा ही अंधेरा है। बहू ने आंसू बहाते हुए कहा—मेरी सास! मुझे क्षमा करना। यह अंधेरा बहुत ही ढीठ है। इसे पीटते पीटते कई लाठियाँ टूट चुकीं। मेरे हाथ छिल गए, लहू-लुहान हो गए। फिर भी इसने मेरी बात नहीं मानी। सारी खिड़कियाँ और दरवाजे बन्द कर डाले तो भी यह आ घुसा। मैं हार गई तो भी यह नहीं गया। बहू की भोली बातों पर सास हँस पड़ी। उसने दीपक जलाते हुए कहा—बहूरानी! अन्धेरा पीटने से नहीं जाता है, वह जाता है ज्योति से। घर के साथ-साथ बहू का हृदय भी जगमगा उठा।



: २५ :

स्मृति का जहर

बहुत बार स्मृति भी अभिशाप बन जाती है। एक बार की घटना है—चार यात्री आए और बुढ़िया के ढाबे में ठहरे। भोजन किया और रुपये दिए। ऐसा सभी करते हैं पर उन्होंने जिस ढंग से किया, उससे बुढ़िया बड़ी प्रसन्न हुई। बुढ़िया के व्यवहार से वे भी प्रसन्न हुए। वह प्रसन्नता अधिक निखरती है, जो बंटकर आती है –दोनों ओर से आती है। एक दिन में ही वे घर के-से हो गए। रात को भी वहीं रहे। पौ फटते-फटते जाने लगे तो बुढ़िया ने उन्हें एक-एक गिलास छाछ पिलाई। स्नेह के आंसू लिए वे विदा हो गए। वर्षों बाद वे चारों फिर उसी मार्ग से लौट आए। बुढ़िया उन्हें देखते ही बोली—अरे भैया! तुम जीवित हो। क्यों दादी! हम मर जाते तो तुम खुश होती ?

नहीं भैया! मैंने तो तुम्हारे लिए न जाने कितनी बार आंसू बहाए और कितनी बार अपने आपको धिक्कारा।

धिक्कारा! किस लिए दादी ?

भैया! क्या बताऊँ ? याद होगा तुम्हें. विदा होते-होते तुमने छाछ पीई थी।

हाँ याद है दादी! बहुत अच्छी तरह से याद है। तुम्हारे हाथ से जो गिलास मिली, उसे भूल कैसे सकते हैं ? फिर क्या हुआ दादी!

भैया! तुम तो चले गए। मैंने सूरज उगने पर देखा तो बिलौने में साँप मथा हुआ मिला।

हैं! साँप ? इसी प्रश्न के साथ उनके प्राण-पखेरू उड़ गए। बुढ़िया देखती ही रह गई।

: २६ :

प्रायश्चित्त

प्रायश्चित्त से शुद्धि होती है पर तभी जबकि मन में अकृत्य के प्रति अनुताप हो और उसकी पुनरावृत्ति न करने का संकल्प हो अन्यथा कुम्हार वाला 'मिच्छामि दुक्कडं' बन जाता है। एक दिन की बात है गुरु और शिष्य कुम्हार के घर में ठहरे। शिष्य चंचल था। उसने एक कंकड़ उठाया और घड़े पर फेंका। घड़ा फूट गया। वह बोला—'मिच्छामि दुक्कडं'—मेरे पाप विफल हों। फिर कंकड़ उठाया, फेंका और घड़ा फूटा तब बोला—'मिच्छामि दुक्कडं'। तीसरी बार भी ऐसा ही किया। अब कुम्हार झल्ला उठा। वह साधु के समीप आया और एक चाँटा जमा दिया।

साधु—यह क्यों ?

कुम्हार—मिच्छामि दुक्कडं।

फिर एक चाँटा जमाया और बोल उठा—मिच्छामि दुक्कडं।

साधु—यह क्या ?

कुम्हार ने तीसरी बार चाँटा मारते हुए कहा—जैसे को तैसा।



: २७ :

बात में आगे काम में पीछे

ऐसे लोग बहुत कम होते हैं, जो कठिनाइयों को झेलकर कार्यक्षेत्र में डटे रहें, साध्य की सिद्धि के लिए प्राणों की बलि कर दें। ऐसे लोग बहुत कम नहीं होते जो कार्य-क्षेत्र से भाग-भागकर ही अपने को चिरायु बनाते हैं, बातें बनाने में आगे रहते हैं और काम आ पड़ने पर खिसक जाते हैं।

दोनों सेनाएँ आमने-सामने खड़ी थीं। आदेश मिला और युद्ध छिड़ गया। ठाकुर साहब ने पीछे खड़े-खड़े ही खूब हाँके मारीं। ढाह लो, मार गिराओ—कहते-कहते गला भारी हो गया। पास खड़े सैनिक ठाकुर साहब के जोश पर चकित थे। लड़ाई में वेग आया। तलवारें चमचमाईं। तोपों ने आग उगलनी शुरू कर दी। सैनिक शस्त्रास्त्रों से खेलने लगे। विपक्षी सेना ठाकुर साहब की सेना पर टूट पड़ी। अब ठाकुर साहब पीछे की ओर खिसकने लगे। घोड़े को जैसे ही पीछे मोड़ा वैसे ही पड़ोसी सैनिक बोल उठे—ठाकुर साहब! अब तो बूढ़े हो गए हो, सिर पर धोले आ गए हैं, फिर क्यों भागते हो?

भैया! तुम लोग भोले हो, ये धोले भागते-भागते ही हुए हैं।



: २८ :

यमराज की दीर्घ दृष्टि

जो लोग धन को एकत्र करना जानते हैं, उसका उपयोग करना नहीं जानते, उन्हें और कोई न भी जाने पर यमराज तो जान ही लेता है।

एक आदमी स्वभाव से कृपण था। धन की कोई कमी नहीं थी। पर मन छोटा था। दूसरों को देने का तो सपना ही नहीं आता। अपने लिए भी पूरा खर्च नहीं करता। वह धन को देख-देख राजी हो जाता। एक दिन मौत की घण्टी बजी। हैजा हो गया। वैद्य को बुलाये कौन ? रुपए दिए बिना वह आता नहीं। उसके प्राण पंखेरू उड़ गए। पति को मरा देख पत्नी बोली—हे नाथ ! आपको यहाँ रहते हुए इतने वर्ष हो गए पर बस्ती वाले आपको पहचानते तक नहीं। याचक भी आपको नहीं जान पाए। अचरज यही है कि यमराज को कैसे पता चला ?



: २६ :

भाई-भतीजावाद

भाई-भतीजावाद के संकट का सामना आज के राजनयिकों को ही नहीं करना पड़ रहा है, इसका सामना घर-गृहस्थी में भी लोग चिरकाल से कर रहे हैं। एक ऐसा ही प्रसंग है :

एक दिन सेठानी ने कहा—आप दूसरे लोगों को इतने-इतने मासिक देते हैं, बड़े-बड़े काम सौंपते हैं और यह मेरा भाई जो घर का है उसकी ओर कोई ध्यान ही नहीं देते। सेठ ने उसकी बात सुनली। कोई उत्तर नहीं दिया। कुछ दिन बाद सेठानी ने फिर कहा। सेठ ने फिर उसे टाल दिया। आखिर एक दिन सेठानी अपनी बात पर अड़ ही गई। वह बोली—मेरे भाई को सबसे बड़ा मुनीम बनाए बिना मैं रोटी नहीं खाऊँगी। सेठ ने बहुत समझाया—तेरा भाई योग्य नहीं है। पर वह मानी नहीं। सेठ ने उसे बुलाया और कहा—जाओ! तुम्हारे भानजे की शादी करनी है। अच्छा वर देख सगाई कर आओ। लड़का सोलह वर्ष का होना चाहिए। वह सेठजी को प्रणाम कर चला। घर से बाहर जा वापस आया। सेठ और सेठानी अभी उठे ही नहीं थे। आते ही बोला—सोलह वर्ष का एक न मिले तो आठ-आठ वर्ष के दो ले आऊँ? सेठानी देखती ही रह गई।



दूध का तालाब

समाजवाद, जनतंत्र और सामुदायिक यत्न उसी स्थिति में शक्ति अर्जित कर सकते हैं और उसी स्थिति में अधिक सफल हो सकते हैं जबकि जन-मानस स्व-निर्भर हो जाए, दूसरों के प्रयत्नों का लाभ चुराने की भावना मिट जाए और दूसरों के विसर्जन के आवरण में अपना संग्रह छिपाने की वृत्ति टूट जाए। अन्यथा दूध के स्थान पर पानी ही मिलता है।

गर्मी के दिन थे। तालाब सूखा पड़ा था। राजा के मन में उसे दूध से भरा हुआ देखने की इच्छा हुई। मंत्री से परामर्श किया। इतना दूध कहाँ से आयगा ?

मंत्री चिन्ता-मग्न हो गया। राजा को कोई चिन्ता नहीं थी। उसका सामुदायिकता में विश्वास था। राजा की इच्छा के अनुसार मंत्री ने राजाज्ञा की घोषणा करा दी—प्रत्येक नागरिक आज शाम को एक-एक लोटा दूध इस तालाब में डाले।

प्रभात हुआ। राजा दूध भरा तालाब देखने की आकांक्षा लिए उठा। मंत्री को निमंत्रित किया। आमोद की मुद्रा में तालाब पर आया। सबने देखा—तालाब लबालब भरा है, दूध से नहीं पर पानी से। राजा का स्वप्न टूट गया।

एक ने सोचा—इतने बड़े तालाब में यदि मैं एक लोटा पानी डाल आऊँ तो क्या पता चलेगा ? दूसरे और तीसरे ने भी यही सोचा। प्रवाह ऐसा ही बह गया। सबने यही सोच लिया और तालाब जल से भर गया। राजा अब तक पानी में दूध देख रहा था, पर आज उसे दूध में भी पानी दीखने लगा।



: ३१ :

बड़प्पन की भूख

आदमी सोचता है—मैं बड़ा बनूं, पर यह नहीं सोचता कि कोई आदमी बड़ा कैसे बनता है? हर आदमी चाहता है, मेरा अनुशासन चले, पर यह नहीं चाहता कि मैं अनुशासन में चलूं। यह मनोवृत्ति सभी देश-कालों में व्यक्त हुई है।

एक लड़का जा रहा था। गर्मी के दिन थे। उसे प्यास लग गई। पानी खोजने लगा। एक टीले पर झोंपड़ी दिखाई दी। वह वहाँ पहुँचा। बाबा ने उसे पानी पिलाया। लड़का वहीं ठंडी छांह में बैठ गया। बाबा ने कहा—क्यों लड़के! चेला बनोगे?

वह क्या होता है महाराज? लड़के ने पूछा।

एक होता है गुरु और एक होता है चेला—बाबा ने बताया।

गुरु कौन होता है और चेला कौन? गुरु का क्या काम होता है और चेले का क्या?—लड़के ने पूछा।

बाबा ने कहा—जो बड़ा होता है, वह गुरु होता है और जो छोटा होता है, वह चेला होता है। गुरु आदेश देता है और चेला उसे मानता है।

तो महाराज! मैं चेला नहीं बनूंगा, गुरु बनाओ तो मैं बन जाऊँ।



: ३२ :

ढपोलशंख

एक यात्री अपने देश को जा रहा था। बीच में एक गाँव में ठहरा। उसके पास दक्षिणावर्त शंख था। शाम को उसने शंख की पूजा की। फिर प्रार्थना के स्वर में बोला—मैं पाँच रुपए पाकर बड़ा अनुगृहीत होऊँगा। दूसरे ही क्षण उसके हाथ में पाँच रुपए थे। घर का मालिक आश्चर्य-चकित रह गया। उस शंख को हथियाने के लिए ललचा गया।

यात्री रात को सो रहा था। थका हुआ था। सन्देह कोई था नहीं। कोई भय भी नहीं था। ठंढ़ी रात थी। मृदु बिछौना था। शरीर स्वस्थ था। आधी रात की वेला थी। नींद गहरी हो चली थी। घर का मालिक उठा। धीरे से उसके झोले में हाथ डाला और शंख को निकाल लिया।

पौ फटते ही यात्री मधुर विदा ले चल पड़ा। कोसों तक चला गया। सूर्य उगा। शौच कार्य से निपट वह पूजा करने बैठा। कपड़ा उतारा तो उसका दिल ही उतर गया। उसके हाथ में रह गया कोरा शंख। वह क्या पूजा लेता और क्या उसे मुंह माँगा देता?

कुछ दिन बीते। वही यात्री, वही घर और वही पूजा का समय। ब्राह्मण ने उसी विनम्र स्वर में कहा—मुझे दो रुपयों की आवश्यकता है। शंख बोला—लो चार। चार माँगे तो बोला लो आठ। घर का मालिक

कान लगाए बैठा था। मुंह में पानी भर आया। ब्राह्मण सो गया। पर आज आँखों में नींद नहीं थी। घर का मालिक उठा, हौले से जा शंख को बदल लिया। उसके जाते ही ब्राह्मण उठा। दक्षिणावर्त को देख हर्ष से उछल पड़ा। उसी समय चल पड़ा।

प्रभात हुआ। घर का मालिक उठा। पूजा की और पाँच रुपये माँगे। बोला—लो दस। दस माँगे तो बोला—लो बीस। बीस के चालीस और चालीस के अस्सी हो गए। पर अब रुपए कहाँ थे? चोरी और वाचालता का विचित्र योग देख उसने कहा—तुम केवल बोलना ही जानते हो या कुछ देना भी?

महाशय! देना दक्षिणावर्त का काम है। डफोलशंख का काम है केवल बोलना।



: ३३ :

पहचान

बहुत व्यक्ति ऐसे होते हैं जो स्वभाव बदलना नहीं चाहते, केवल नाम बदलना चाहते हैं। किन्तु यह कैसे संभव है ? स्वभाव वही रहा तो नाम अपने आप बोल उठेगा।

एक था आदमी। उसे लोग मूर्ख कहते। वह खीज उठता। पर करे क्या ? सारे लोग जब मूर्ख कहने लगे। उसने सोचा यहाँ रहते नाम बदलेगा नहीं। अब मुझे परदेश जाना चाहिए। वह चल पड़ा। दो-चार कोस गया। प्यास लगी। कुए पर गया। नाली से जल गिर रहा था। मुंह में हाथ लगा जल पिया। प्यास मिट गई पर जल तो गिर ही रहा था। अब वह मनाही के लिए सिर हिलाने लगा। इधर उसका सिर हिल रहा था उधर जल गिर रहा था। इतने में पनिहारियाँ आईं। उसे टोकते हुए बोलीं—मूर्ख ! ऐसे जल गिरना बन्द थोड़े ही होगा ?

मूर्ख बोला—ओह ! तुमने मुझे कैसे पहचाना ?



: ३४ :

वाणी का चमत्कार

वाणी को देवी कहा जाता है। देवी इसीलिए बड़ी मानी जाती है कि उसमें चमत्कार-शक्ति होती है। हजारों देवियों के समझाने पर भी जो बात समझ में नहीं आती, वह वाणी के एक प्रयोग से ही समझ में आ जाती है। वाणी में इतना चमत्कार है, इसीलिए तो वह वाग्-देवी है।

राजधानी में नट-मण्डली आई। बहुत विश्रुत, बहुत कुशल। राजसभा में नाटक आयोजित हुआ। नटी ने अपूर्व कौशल दिखलाया। प्रहर-पर-प्रहर बीत गए पर जनता की आँखें अब भी प्यासी थीं। कृपण था राजा और कृपण थी प्रजा। जैसा राजा वैसी प्रजा। नट राजा की दृष्टि देख रहा था। राजा देख रहा था नटी के अपूर्व करतब। न राजा पसीजा और न नट ने नाटक थामा। आखिर नटी ने गाया—हे मेरे नायक! पंजर थक गया है। अब तुम कोई मधुर तान छेड़ो, मधुर ताल दो।

नट ने गाया—बहुत लम्बी रात बीत चुकी। भोर होने को है। अब थोड़ी देर के लिए रंग में भंग मत करो।

मुनि खड़ा हुआ। सवा लाख की रत्न-कंबल नट के हाथों में उसने थमा दी।

राजकुमार उठा और उसने कुण्डल नट की झोली में डाल दिए।

राजकुमारी ने अपना हार नटी को पहना दिया।

राजा अचम्भे में था। सभा अवाक् थी। दो क्षण वातावरण मौन रहा।

इतना अनुग्रह कैसे ? राजा ने मुनि से पूछा।

मैंने इसे कोरा कंबल ही दिया है। इसने तो मुझे जीवन दिया है महाराज ! मैं अब फिर से मुनि-धर्म में स्थिर हो गया हूँ। इसने जो गाया—बहुत लम्बी रात बीत चुकी है। भोर होने वाला है। अब थोड़ी देर के लिए रंग में भंग मत करो।

राजा ने युवराज से पूछा—मुझे बिना पूछे कुण्डल जो दिए, इतना साहस ?

युवराज बोला—मैं तो तुला हुआ था महाराज ! आपकी हत्या के लिए। इसने मुझे उबार लिया। इसने जो गाया—बहुत लम्बी रात बीत चुकी। भोर होने को है। अब थोड़ी देर के लिए रंग में भंग मत करो।

राजा ने कन्या से पूछा—रत्नहार इतना सस्ता तो नहीं है ?

महाराज ! पर आपने मेरी चिन्ता कब की ? मैं मंत्री-पुत्र के साथ भागने की तैयारी में थी, किन्तु नट ने मुझे बचा लिया। इसने जो गाया—बहुत लम्बी रात बीत चुकी। भोर होने को है। अब रंग में भंग मत करो थोड़ी देर के लिए।

दो क्षण के लिए फिर एक बार सभा में सन्नाटा छा गया।



: ३५ :

जहर और अमृत

वसन्तोत्सव के दिन थे। हरिकेशबल अपने परिवार के साथ गोठ में गया था। रसोई बन रही थी। बच्चे खेल रहे थे। हरिकेश बच्चों के साथ मार-पीट कर रहा था। बड़े-बूढ़ों ने उसके कर्त्तव्य देखे। उसे पंक्ति से निकाल दिया। दूसरे बच्चे खेल रहे थे। वह दूर खड़ा-खड़ा एक टक निहार रहा था। इतने में वहाँ एक साँप आया। लोग दौड़े, लाठियाँ उठीं। साँप को मार दिया। बच्चे फिर खेलने लगे। थोड़ी देर बाद एक गोह आई। लोग दौड़ पड़े, उसे उठाया और एक ओर डाल आए। हरिकेश समझ नहीं पाया। वह एक बूढ़े के पास गया। उसने पूछा—ऐसा क्यों हुआ बाबा? साँप में विष होता है, गोह में वह नहीं होता। हरिकेश मन ही मन सोचने लगा—मैं इसीलिए तो पंक्ति से निकाला गया हूँ कि मुझ में विष है।

जिसमें विष नहीं होता उसे कोई नहीं सताता। सताया वही जाता है जो जहर उगलता है। इस सत्य को समझ लेने से जहर पल भर में अमृत बन जाता है।



: ३६ :

सोने की गंध

निर्लिप्त की बात निरी गप्प-सी लगती है, क्योंकि जो लिप्त होता है उसे यथार्थ का ज्ञान नहीं होता और जिसे यथार्थ का ज्ञान होता है, वह वैसी बात नहीं कहता जो यथार्थ-शून्य हो। एक दिन यही सत्य अनावृत हुआ था।

योगी की प्रसिद्धि फूट रही थी। वह राजा के कानों तक पहुँची। उसने योगी को निमंत्रण देने राजपुरुष भेजा। वह आया। योगी के चरणों में नमस्कार कर बोला—गुरुदेव ! महाराज आपके दर्शन चाहते हैं।

यहाँ किसी का भी प्रवेश निषिद्ध नहीं है—तुरन्त योगी ने उत्तर दे दिया।

राजपुरुष बोला—गुरुदेव ! महाराज आपको महलों में निमंत्रित करते हैं।

यह असंभव है भाई ! योगी ने कहा।

असंभव किसलिए गुरुदेव ?

मुझे सोने की गंध आती है—योगी चीख उठा।

आत्म-तेज तर्क को और तर्क आत्म-तेज को नहीं सह सकता। राजपुरुष उठा, नमस्कार कर चला गया।

प्यासे को सपना भी कुए का आता है तो भला जागते समय वह क्या

नहीं कर सकता ? राजा योगी के पास जा वैठा। पहला वाक्य यही कहा—अव आपका झूठा सच टिकने वाला नहीं है। योगी ने मुस्कुरा दिया। सोने की गंध आती है, इसे प्रमाणित करना होगा, नहीं तो सारा पाखण्ड आज खुल जाएगा।

योगी उठा। राजा का हाथ पकड़ अपने साथ ले गया। चमारों के घर थे। चमड़ा लटक रहा था। राजा ने नाक भौंह सिकोड़ते हुए कहा - कहाँ ले आए योगिन् ?

योगी वोला—वही जहाँ इस चमार को गंध नहीं आती, तुझे आती है। तू मुझे वहीं तो ले जाना चाहता है, जहाँ तुझे गंध नहीं आती, मुझे आती है। राजा का तर्क शेष हो गया।



: ३७ :

अर्थ का अनर्थ

सर्दी की रात थी। हाथ ठिठुर रहे थे। पैर सिकुड़ रहे थे। शरीर जकड़ रहा था। लोग अपने-अपने कपड़े में समेटे हुए सो रहे थे। स्वास्थ्य का नियम है—खिड़कियाँ खुली रहें, मुँह पर भी वस्त्र न ओढ़ा जाए। पर हिम क्या बरस रहा था, सारे नियम टूट रहे थे। लोग वैसे सो रहे थे जैसे कपड़े बिछे हुए हों। उसी वेला में महारानी चेलना का हाथ प्रावरण से बाहर हो गया। शीत में जकड़ गया। वह जगी और अपने हाथ को संभालते हुए बोली—ओह ! वह क्या करता होगा ? ये शब्द सम्राट् श्रेणिक के अन्तर को बींध गए।

शीत-ऋतु की रात वैसे ही लम्बी थी। कल्पनाओं के जगत् में वह और अधिक लम्बी हो गई। मन इतना भर गया कि महारानी के लिए उसमें एक कोना भी खाली नहीं रहा। आखिर रात पूरी हुई।

प्रभात हुआ। सम्राट् ने अभयकुमार को बुलाकर कहा—रनिवास समेत इस प्रासाद को जला डालो और तुरन्त मुझे सूचना दो। मैं भगवान् महावीर को वन्दना कर अभी वापिस आ रहा हूँ। सम्राट् इतने आवेश में था कि अभयकुमार ने स्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया। सम्राट् ने भगवान् की वन्दना की। भगवान् ने चेलना के शील की प्रशंसा की। सम्राट् अधीर

हो उठा। वह तुरंत वहाँ से चला। अन्तःपुर में जाकर देखा तो प्रासाद धूँआ बन रहा था। अभयकुमार ने आज्ञा प्रत्यर्पित की तो सम्राट् प्राण-शून्य सा हो गया।

सम्राट् ने कहा—अभयकुमार ! भगवान् ने कहा है—चेलना का शील प्रशस्त है। महारानी ने भी तुम्हें कुछ कहा होगा ?

हां, कुछ कहा है महाराज! और वही जो कल बीता था...कल शाम को सम्राट् भगवान् को वन्दना कर लौट रहे थे। मार्ग में एक भिक्षु कायोत्सर्ग की मुद्रा में खड़ा था। शीत-त्राण के लिए उसके पास कोई वस्त्र नहीं था। बस, केवल पेड़ का अधोभाग ही उसके लिए सब कुछ था। मैंने उसे देखा और सम्राट् ने देखा। हाथ ठिठुरने पर मुझे उसकी स्मृति हो आई और मेरे मुँह से निकल पड़ा—वह क्या करता होगा ?

सम्राट् बस इतना ही कह सका—अर्थ का अनर्थ हो गया।

विश्वास में मनुष्य जो करता है, वह भी कम आश्चर्यजनक नहीं होता, पर उससे भी अधिक आश्चर्यजनक वह होता है, जो मनुष्य संदेह के कटघरे में बन्दी होकर करता है।



छोटा बड़ा

एक सेठ था, जितना ही धनी उतना ही कृपण। बूढ़ा हो गया, दान देने की भावना उठी। एक ब्राह्मण आया। वह बहुत गरीब था। स्वस्ति वचन कहा। सेठ ने उसे एक बूढ़ी गाय दी और चार रुपये दिए। वह गाय को हांकना नहीं जानता था। सेठ ने कहा—जब यह बैठ जाय तो 'कटकार' करना, यह उठ खड़ी होगी। जब यह न चले तब 'कटकार' करना, यह चल पड़ेगी। वह गाय को लेकर चला। जंगल में पीलू का पेड़ आया। वह पीलू-फल खाने लगा। गाय बैठ गई। वह पीलू-फल खाकर आया तो उसने देखा गाय बैठ गई है। उसे उठाने का शब्द भूल गया। उसने सोचा वह कहीं गुम हो गया है। उसे खोजने लगा। मध्याह्न हो गया। एक पथिक आया। उसने पूछा—ब्राह्मण! क्या खोज रहे हो? ब्राह्मण बोला—एक बड़े सेठ ने मुझे कुछ दिया था, वह खो गया। उसे खोज रहा हूँ। पथिक ने सोचा कोई मूल्यवान् वस्तु होगी। वह बोला—मैं ढूंढ़ दूं तो उसका आधा दोगे न? ब्राह्मण ने हां भर ली। पथिक जंगल की खाक छानने लगा। शाम हो गई। मिला कुछ भी नहीं। पथिक खिन्न हो गया। वह गाय के पास आया। उसने सोचा कहीं इसके नीचे तो नहीं है। उसने 'कटकार' शब्द किया। गाय खड़ी हो गई। ब्राह्मण उछला—मिल गया, मिल गया। पथिक ने पूछा—मेरा आधा भाग दो। ब्राह्मण बोला—आधे रास्ते 'कटकार' करता हुआ चला।

पथिक बोला—यह तो बता तेरा गुम क्या हुआ था? ब्राह्मण बोला—बस यही 'कटकार'। पथिक उसकी ओर एकटक देखता ही रह गया।

उद्देश्य-हीन प्रवृति बड़ी होकर भी अकिंचित्कर हो जाती है और उद्देश्य-प्रधान प्रवृति छोटी होकर भी बहुत बड़ी हो जाती है।



: ३६ :

समाधान

एक धूर्त आदमी के पास गौ थी, बहुत स्वस्थ और बहुत गठित। एक दिन वह रुग्ण हो गई। पैर जुड़ गए। मार्ग पर ही बैठ गई। धूर्त ने उसके पैरों के पास घास के पूले रख दिए। गौ को बेचने लगा। एक खरीददार आया। उसने हृष्ट-पुष्ट गाय देखी और मोल ले ली। उठाने लगा वह उठी नहीं। तब उसे मालूम हुआ यह लंगड़ी है। वह भी बेचने की धुन में लगा। एक पथिक आया। वह बोला—गौ ले सकता हूँ पर देख लेता हूँ, इसकी गति और दूध। बनिया बोला—मैंने यह बैठी ही मोल ली थी और तुम भी ऐसे ही ले लो।

तुमने भूल की तो क्या मैं भी उसे ही दोहराऊँ, यह कहते हुए पथिक आगे बढ़ गया।



: ४० :

शब्द की पकड़

Sabad Ki Pakad

एक तपस्वी था। वह आचार्य के पास आया और तपस्या का पारण करने की आज्ञा माँगी। आचार्य ने कहा – क्षीण कर। उसने पारण नहीं किया, तप को और लम्बा किया। कुछ दिन बाद फिर पारण करने की स्वीकृति मांगी तो आचार्य ने फिर कहा—क्षीण कर। उसने फिर तपस्या की और शरीर को सुखा दिया। एक दिन फिर वह अपने अस्थि-पंजर शरीर को लिए हुए आचार्य के सामने उपस्थित हुआ। पारण की आज्ञा माँगी। आचार्य ने फिर उसी भाषा में कहा—क्षीण कर। तपस्वी झुँझला उठा। एक झटके में ही कनिष्ठा को तोड़ते हुए कहा—इससे अधिक और क्या करूँ ?

आचार्य ने कहा—इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि क्षीण कर। तपस्वी ! मैंने कब कहा कि तू काया को क्षीण कर। घोर तप करके भी तू जिस पर विजय नहीं पा सका, उस क्रोध को क्षीण कर।

अब वह संभाल रहा था अपने आपको और शब्द-ग्रह की वेदी पर बलि बनी हुई अपनी अंगुली को।

उन्हें समाधान नहीं मिलता जो शब्दों की पूजा किया करते हैं। उसे हृदय को पकड़ने वाले ही पा सकते हैं।



: ४१ :

संकुलता

संकुलता से मुक्त कौन है ? और संकुलन कहाँ नहीं है ? बाजार में चले जाइए। दूकानों की लम्बी पंक्ति है। एक वस्तु की अनेक दूकानें हैं। कहाँ से क्या लिया जाए ? इसका निर्णय व्यक्ति को ही करना होगा।

राजनीति के क्षेत्र का स्पर्श कीजिए। अनेक दल हैं। सबके पास खुश-हाली के घोषणा पत्र हैं। कीसकी सदस्यता स्वीकार की जाय ? इसका निर्णय व्यक्ति को ही करना होगा।

चिकित्सा का क्षेत्र भी ऐसा ही है। अनेक प्रणालियाँ हैं। उनके सब अधिकारियों के पास रोग-मुक्ति का आश्वासन है। किसकी शरण लें ? इसका निर्णय व्यक्ति को ही करना होगा।

धर्म के जगत् में चले जाइए। अनेक सम्प्रदाय हैं। सबके पास मुक्ति का मार्ग है। किसका अनुगमन किया जाय ? इसका निर्णय व्यक्ति को ही करना है।

ये सब अनेक हैं—इसलिए बुद्धि को कष्ट देना पड़ता है। यदि सब एक हो जाएँ तो निर्णय करने का प्रयास क्यों करना पड़े ?

एक बार भोज ने ऐसा ही सोचा और छहों दर्शनों के प्रमुखों को कारा-

गार में डालकर जेलर को आदेश दिया कि उन्हें तब तक भोजन न दिया जाए, जब तक वे एक मत न हो जांय।

यह बात सूराचार्य के कानों तक पहुँची। वे भोज की सभा में गए और गुजरात लौट जाने की अपनी इच्छा व्यक्त की और साथ ही पूछा—राजन्! वहाँ जाने पर मेरे आचार्य धारा नगरी के बारे में पूछेंगे। मैं उन्हें प्रामाणिक जानकारी दे सकूँगा, यदि आप मुझे सही-सही जानकारी दें।

राजा भोज ने गर्वोन्नत भाव से कहा—मुनिवर! मेरी नगरी में चौरासी राज-प्रासाद हैं, चौरासी बड़े बाजार हैं। प्रत्येक बाजार में भिन्न-भिन्न वस्तुओं की चौबीस बड़ी दुकानें हैं।

सूराचार्य बीच में ही बोल उठे—अलग-अलग दुकानें क्यों? अच्छा हो, सबको मिलाकर एक कर दिया जाए!

भोज ने कहा—भला यह कैसे हो सकता है? आप कल्पना कीजिए, दुकान एक हो तो कितनी भीड़ हो जाए। लोगों की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं को कौन कैसे पूरा करे? आप मुनि हैं, व्यापार की कठिनाइयों को आप क्या जानें?

सूराचार्य ने कहा—यही तो मैं कहना चाहता हूँ कि आप शासक हैं, दर्शनों की सूक्ष्मताओं को आप क्या जानें? जिन दुकानों पर आप का अधिकार है, उन्हें भी आप एक नहीं बना सकते तो भला जन-रुचि के विभिन्न स्रोतों को एक कैसे कर सकेंगे?

राजा चिन्तन की गहराई में डुबकी लगाए बिना नहीं रह सका। सब दार्शनिक अब अपने-अपने विचार-प्रसार में स्वतंत्र थे।



: ४२ :

वह बन्दी न था

हवा के ठण्डे झोंकों में दीर्घ-उष्ण निश्वास गर्मी फूंक रहा था। विचारों की उर्मियाँ जमीन और आसमान को एक में समेट रही थीं। मिलन की उत्सुकता से द्रवित बनी आँखों से आँसू लुढ़क कर अन्तर-वेदना का संगीत गा रहे थे। पलक-पलक में असंख्य चित्र आ जा रहे थे। पल-पल में अनन्त कल्पनाएँ थपकियां मार रहीं थीं। राज-प्रासाद का एकान्तवास चिन्ता की आग में घी की आहुति डाल रहा था।

कमरे की खिड़की से अन्तरिक्ष की ओर टकटकी बाँधे राजा अपने दृढ़ निश्चय को दोहरा रहा था। अपनी सफलता का समर्थन पाने की टोह में था कि इतने में दिशा-यंत्र की सूई घूम गई। पैरों की आहट सुनते ही वह उसी क्षण सिंहासन पर जा बैठा—शान्त, मौन और चिन्तित।

मंत्री आया और अभिवादन कर स्तब्ध-सा खड़ा रह गया। राजा की स्वीकृति बिना बैठता कैसे ? लम्बी प्रतीक्षा के बाद राजा ने मौन तोड़ते हुए कहा—कौन ? मंत्री !

हाँ, वही आपका अनुचर—मंत्री ने गहरी साँस भरते हुए कहा। मैं महाराज की स्थिति से चिंतित हूँ, मुझे मंत्री नहीं रहना चाहिए—आवेश के स्वर में वह कह गया।

राजा बोला—और चिंतित बनाया किसने ?

मंत्री—क्या मैंने ?

राजा—हाँ, तुम्हीं ने तो।

मंत्री—मुझे आज्ञा दीजिए।

राजा—आज्ञा ! किस बात की आज्ञा ?

मंत्री—आपसे दूर चले जाने की।

राजा—क्यों ? किसलिए, आज यह कौन-सा नया स्वांग लाए हो ?

मंत्री—कुछ भी समझिए, मैं आपकी चिन्ता का हेतु बन जीना नहीं चाहता।

राजा—तो क्या मरोगे ? मुझे मारकर या मुझसे पहले ?

मंत्री—यूं क्यों जीते जी जलाते हैं ? क्या मैं आज पत्थर बनकर ऐसी बातें सुनने को तैयार हूँ।

राजा—तो क्या तुम दूसरी जगह जाकर मेरी चिन्ता मिटा सकोगे ?

मंत्री—यह होगा ही।

राजा—अगर तुम मेरे मंत्री ही होते, किन्तु मित्र हो और अभिन्न।

मंत्री—ऐसा होता तो मैं चिन्ता का हेतु क्यों बनता ?

राजा—ऐसा है इसलिए।

मंत्री—मैं नहीं समझ रहा हूँ, आज महाराज मुझे कहाँ ले जाना चाहते हैं ?

राजा—मैं ले जाना नहीं, लाना चाहता हूँ—छह मास पहले जो तुम थे।

मंत्री—क्या मैं अब वह नहीं रहा ?

राजा—तुम्हीं बताओ, क्या इस थके शरीर और थकी प्रतिभा ने ही मुझे खींचा था।

मंत्री—नहीं महाराज ! इसीलिए तो मैं आपसे छुट्टी चाहता हूँ।

राजा—छुट्टी पीछे। पहले मैं इसका कारण जानना चाहता हूँ।

मंत्री—महाराज ! घूम फिरकर वही बात आती है। मैं नहीं बता सकता।

राजा—तो क्या आज अन्त होना है।

मंत्री—जो होना है सो……

राजा—ऐसा मत करो मित्र ! मैं मंत्री को छोड़ सकता हूँ, मित्र को नहीं।

मंत्री – मैं आपको ऐसा कुमित्र जो मिला।

राजा—मित्र! आज तक तुम इतने निष्ठुर नहीं बने।

मंत्री—महाराज के लिए आज भी नहीं हूं। किन्तु—

राजा—बस आज मैं इस किन्तु को मिटाना चाहता हूँ।

मंत्री—यह मिट नहीं सकता महाराज !

राजा—तुम जानते हो मंत्री ! राजा की आज्ञा का अतिक्रमण अपराध है।

मंत्री—हाँ प्रभो ! मैं जानता हूँ। मुझे दण्ड दीजिए।

राजा—कैसा अजीव पागलपन है, आखिर मुझे पागल बनाना जो है। यूं कहते राजा की आँखों में पानी भर आया, शरीर काँप उठा और दिल की धड़कन बढ़ चली।

मंत्री—(खोया हुआ-सा) शांत रहिए महाराज ! आप चाहेंगे, वह जरूर होगा। मंत्री की मर्यादा नहीं टूटेगी।

राजा—(कुछ संभल कर) क्या ठीक है ?

मंत्री—हाँ, प्रभो ! एक ओर लज्जा है दूसरी ओर स्नेह। आखिर एक को मिटाना है।

राजा—क्या स्नेह को ?

मंत्री—महाराज ! स्नेह के मिटने पर यदि मैं अकेला मिटता तो बारी इसी को आती। किन्तु…

राजा—मेरे मिटने की चिन्ता है ?

मंत्री—नहीं तो मैं अब तक यहाँ नहीं होता।

राजा—इतनी आत्मीयता है तो फिर लज्जा किस बात की ? क्या अपने आपसे भी तुम्हें संकोच होता है।

मंत्री—कायल हूँ महाराज ! कहिए अब आप क्या चाहते हैं ?

राजा—मैं तुम्हारी मानसिक चिन्ता का कारण जानना चाहता हूँ।

मंत्री—अच्छी बात है। सुनिए—इस मर्यादाहीन और निर्लज्ज व्यक्ति की जीवन-कहानी।

मंत्री बोलने की चेष्टा करता है, कंठ रुंध जाता है, स्वर भारी पड़ जाता है। शून्य चेतस्क और अनमना-सा वह नहीं समझ पाता कि अब क्या करना है?

राजा फिर धीरज बंधाते हुए कहता है, मित्र! घबराओ मत! तुम अपना दिल राजा को नहीं, मित्र को दे रहे हो। मर्म की बात राजा नहीं सुन सकता। उसे सुनने का अधिकार मित्र को है। मित्र! तुमने मुझे पहचाना नहीं।

मंत्री—खूब पहचाना है महाराज! मैं आपके अनुग्रह का अपार ऋणी हूँ। मैं इस ऋण को अपना सौभाग्य मानता हूँ। पर……

राजा—यह क्या है? तुम कहते-कहते रुक जाते हो।

मंत्री—कृतघ्न की यही दशा होती है राजन्! मैं आपका कृतघ्न हूँ, गद्दार हूँ, मुझे दण्ड दीजिए। मेरा अपराध बहुत बड़ा अपराध है। मुझे आप मृत्यु-दण्ड देकर ही मेरे साथ न्याय कर सकते हैं।

राजा—मंत्री! तुम आज मुझे बच्चों का खिलौना बना रहे हो।

मंत्री—यह कैसे? मुझ में ऐसी क्या सामर्थ्य है जो मैं महाराज के साथ खिलवाड़ करूँ? यह सब अपनी कमजोरी छिपाने को है।

राजा—तुम वीर हो फिर कायर क्यों बनते हो?

मंत्री—मैं वीर रहा हूँ? वीर वह होता है जो भूल न करे, और हो जाए तो उसे छिपाए नहीं।

राजा—मंत्री! आज तुम वीर बनकर मुझे सान्त्वना दे सकते हो।

मंत्री—तो सुनिए महाराज! यह अपराधी आपकी रानी पर मुग्ध है। इसके सिवाय और कोई चिन्ता नहीं।

राजा—(विस्मय भरे स्वरों में) यह कैसे?

मंत्री—पल्लीपति की कन्या को जब देखा उसी समय मैं बिक चुका।

राजा—मित्र! बड़े भोले हो तुम! मैं तुम्हें ब्याह देता उससे। तुम जरा संकेत तो जताते।

मंत्री—यह कैसे हो ? मैं आपके कार्य में वाधक वनूँ ।

राजा—मंत्री ! तुम राज्य की मर्यादा जानते हो, मैत्री की मर्यादा नहीं

मंत्री—महाराज ! मैंने मैत्री की मर्यादा निभाई ।

राजा—संकोच से मित्रता नहीं वढ़ती । वह दिल को आर-पार देखना चाहती है । रहस्य से मैत्री का क्या लगाव ?

ंत्री—महाराज ! आप क्या नहीं जानते मानव-स्वभाव की दुर्वलताएँ ? मनुष्य ऊपर से जितना साफ सुथरा है, उतना अन्तर में नहीं होता । मनुष्य वाहर में ही सव कुछ होता तो वह इतना वुरा नहीं वनता । अन्तर में छिपाने की जो उसे क्षमता मिली है, वह वुराई को पालने का घर मिल रहा है । मैंने ऐसा ही किया है, महाराज !

राजा कोरा राजा ही नहीं, सहृदय भी था । वह मूल को वढ़ाना नहीं सुधारना जानता था । उसने मित्र को आश्वस्त करते हुए कहा—मित्र ! चिन्ता मत करो तुम्हारी इच्छा पूरी होगी । तुम घर को चले जाओ मैं महारानी को भेजता हूँ ।

मंत्री शर्म के मारे जमीन में गड़ा जा रहा था । उसने चाहा कि पैरों के तले से जमीन खिसक जाए । वहाँ रहने में संकोच होता है और जाने के लिए पैर नहीं उठते । कुछ कहे विना चला जाना धृष्टता होगी और कहने को जीभ नहीं चलती । राजा उसकी स्थिति को समझता था । वह उठकर अन्तःपुर में चला गया । महारानी ने राजा का अभिवादन किया । राजा की मौन और गंभीर मुद्रा और असामयिक आगमन ने उसे अधीर वना दिया । वह विकल्प में घुल रही थी । इतने में राजा का रुखा स्वर कानों से टकराया, महारानी ! तुम्हें आज मेरे आगमन पर आश्चर्य होता होगा । पर मैं कुछ मतलव से आया हूँ । सच कह दूँ, तुम्हारी परीक्षा करने आया हूँ ।

महारानी गहरी सांस भरती हुई वोली—क्या वह अभी वाकी है ?

राजा—हाँ, हो सकती है । देखता हूँ तुम मेरा आदेश मानती हो या नहीं ।

महारानी—खूव किया । इंगित को देखकर चली उसका यह फल ।

राजा आखिर किसी के नहीं होते, यह सच हो रहा है। महारानी के मुँह पर एक बारगी चिन्ता की रेखाएँ छा गईं।

राजा ने मुस्कान भरते हुए कहा—महारानी! मैं तुम्हें पहचानता हूँ। किन्तु आज तुझे अग्नि-परीक्षा देनी है। तैयार हो न?

महारानी—यह प्रश्न मुझे उलझन में डाल रहा है। मुझे दुःख है, मैं सब कुछ पाकर भी आपका विश्वास न पा सकी।

राजा—मुझे विश्वास नहीं, फिर भी…

महारानी—मैं अपनी प्रवृत्ति के द्वारा आपको विश्वास नहीं दिला सकती, सो वाणी द्वारा दिला सकूँगी—यह मन नहीं मानता।

राजा—देखो, अधीर मत होना। मैं तुम्हें बताए देता हूँ। अभी-अभी तुम श्रृंगार सजकर मंत्री के पास चली जाओ—यह मेरा आदेश है, अनिवार्य आज्ञा है। इसका परिवर्तन हो नहीं सकता। राजा ने जल्दी से पैर आगे बढ़ाते हुए कहा—महारानी! इसे टालने का परिणाम भयंकर होगा और…कहते-कहते राजा अपने स्वर को शून्य में बिखेरता हुआ दूर चला गया।

महारानी सुध-बुध खो बैठी। उसके सामने स्वप्न-लोक नाचने लगा। विकल्पों की ऐसी बाढ़ आई कि गहरी डुबकी भी उसे डुबा नहीं सकी। मुझ अभागिन को अभागा पति मिला होता तो क्या अनहोनी होती? अभागे पति को भी अपनी पत्नी को ऐसी सलाह देते नहीं सुना। नारियों का कैसा जीवन है? पुरुष उनके शरीर को मोल लिया हुआ समझते हैं। शक्तिहीन जीवन, जीवन थोड़ा ही है। दूसरों के इशारों पर चलना खतरे से खाली नहीं होता। बराबरी में अन्याय नहीं हो सकता। मालूम पड़ता है वे हमारा अस्तित्व ही नहीं मानते। महारानी का स्व-मान नभ को चूमने लगा। नारी-जीवन, जिस स्तर पर आज वह है, को मैं अभिशाप मानती हूँ। मातृ-जाति को कोमलता क्या मिली है, अत्याचारों को स्नेह का शस्त्र मिला है। यदि हमें पौरुष का अधिकार मिला होता…। कुछ समय बीता। आवेश रुका। महारानी ने सोचा—महाराज भी मेरा सतीत्व लुटा नहीं सकते। मैं सतीत्व की रक्षा के लिए प्राणों को दे डालूंगी। प्राण देना है पर ऐसे

हो क्या दूं ? ऐसा वलिदान करना है जिससे आगे कोई किसी बहन पर अत्याचार करने का साहस न करे। महारानी नीचे आई और मंत्री के घर जाने को रथ पर जा वैठी।

मंत्री अपने कमरे में वैठा अपनी धृष्टता पर आंसू वहा रहा था। मौत की आवाज मौत से टकरा गई। महारानी के आने की खवर पा वह उठा और अपनी सुधि को समेटते हुए वोला—माँ! पधारिए, आज यह सेवक धन्य है। आपकी-चरण धूलि से सेवक का घर पावन हुआ। इस अधम सेवक ने आपको कष्ट दिया है—क्षमा कीजिए।

महारानी ने सोचा कुछ ही था और पाया कुछ ही। मन्त्री का स्वागत पा उसने अपने को धन्य माना। उसके लिए अव भी राजा की आज्ञा रहस्य वन रही थी। मन्त्री ने वड़े सौजन्य के साथ महारानी को विदा किया।

मन्त्री अपने कमरे में आया और छुरा लेकर काम समाप्त करने की तैयारी में लग गया। मौत से मौत की टक्कर हो न सकी। महारानी शील की रक्षा के लिए मरना चाहती थी। मन्त्री भी अपने अपराध की सजा पाने के लिए मौत को वुला रहा था। महारानी की मौत टल गई। मन्त्री की मौत कौन टाले ?

मन्त्री ने छुरा उठा लिया। हाथ ज्यों ही ऊपर उठे, वन्दी वन गए। मन्त्री मुक्ति की भीख मांगने से पहले आँखें नहीं खोल सका। वह समाप्त होने के वाद ही वन्दी वनाने वाले की ओर देखना चाहता था, किन्तु ऐसा हो नहीं सका। वह अव वन्दी था राजा का, मित्र का और भरोसे का। वह वन्दी था, वन्दी।



: ४३ :

चाण्डाल कौन

देवानुप्रिय ! अभी-अभी कहाँ थे तुम ? मुनि ने कहा।

देवता ने बताया—मुनिवर ! अभी-अभी धोबी और चाण्डाल लड़ रहे थे। मैं उन्हें देख रहा था। मुनि सहसा बोल उठे—देवानुप्रिय ! चाण्डाल कौन था ? एक था धोबी और दूसरा था मैं। बात इस प्रकार हुई कि इधर से मैं आ रहा था, उधर से धोबी। दोनों आपस में टकराए। मुझे क्रोध हो आया। मैंने कहा—अन्धा है, तू देखकर नहीं चलता। धोबी ने कहा—अन्धा है तू जो मुझसे आकर टकराया है। क्रोध से दोनों उबल उठे और आपस में गुंथ गये।

देवानुप्रिय ! वह था हृष्ट-पुष्ट और मैं था क्षीणकाय। उसने मुझे पछाड़ा और बुरी तरह पीटा। देवानुप्रिय ! उस समय तुम मेरी सेवा में नहीं थे।

मुनिवर ! मैं आपकी सेवा में सदा उपस्थित रहता हूँ। उस समय आप वहाँ नहीं थे। वहाँ एक था धोबी और एक था चाण्डाल। प्रभुवर ! मैं तपस्वी की सेवा में रहता हूँ, चाण्डाल की सेवा में नहीं।

